







# शमशा-संस्कृति की रूपरेखा

लेखक —

प्रोफेसर पुरुषोत्तम चन्द्र जैन शास्त्री,

एम ए, एम आ एन

पटियाला

प्रकाशक —

प्रोफेसर पी सी जैन

पटियाला

विश्वम न० २००७ ।  
ईस्वी स० १९५१ ।

१/५१  
५१ ५०

जैन प्रिंटिंग प्रेस, इन्दौर

पुस्तक मिशने का पता -  
मैनजर

जैन प्रिंटिंग प्रेस,  
अम्बाला सिटी

---

ला० टीपचन्द मोहन लाल जैन जोहरी  
अदालत बाजार  
पटियाला ( पेप्सु )

प्रो वा सौ जैन लाल ए  
स्टेडियम  
पटियाला ( पेप्सु )

मुद्रक —

ला० रोशन लाल जी जैन  
ला० बाबू राम जी जैन  
जैन प्रिंटिंग प्रेस,  
अम्बाला शहर ।

( मवाधिकार कर्ता के अधीन है )



श्रमण-संस्कृति के  
पुजारियों के  
कर कमलों  
में

पुरुषोत्तम चन्द्र जैन



## ❧ नम्र निवेदन ❧

भारतीय इतिहास में, जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन दर्शन का कितना ऊँचा स्थान है यह किसी से छिपा नहीं है। जिस भौतिकवाद की भयानकता से तंग आकर आज विश्व के सभी राष्ट्र आध्यात्मिकवाद के सर्वोत्तम मन्देश 'विश्व शांति की स्थापना' के महत्त्व को समझने लगे हैं उस विश्व शान्ति के सन्देश का जैन धर्म अनादिकाल से देता आया है। जैन धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता निरिवाद सिद्ध है। इस महान् धर्म के अहिंसावाद, कर्मवाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त मदा विश्व में इस की कीर्ति को प्रसारित करते रहेंगे। किन्तु समय का चक्र बड़ा विचित्र है। वह जैनधर्म जो कभी विश्वधर्म होने का दावा करता था, बुद्ध सदियों से अवनति की ओर जा रहा है और उस का प्रचार कम हो रहा है। इस का मूल कारण यही है कि जैन धर्म के अनुयायी अपने आदर्शधर्म के वास्तविक सिद्धान्त को न समझ कर पथभ्रष्ट होते जा रहे हैं। जैनदर्शन के सिद्धान्तों का महत्त्व उत्तरोत्तर केवल शास्त्रीय विभूति के रूप में ही रहता जाता है। जैन समाज के जीवन में



का व्यापक रूप में पालन लुप्त होना जा रहा है । हमारा परिणाम यह हुआ है कि ममान में मर्त्य कृत्, ईर्ष्या, कलह और मिथ्या प्रचार का साम्राज्य है । अनेकत-  
 बाद के मिद्वान्त से निलाञ्जली ढी जा रही है । प्रेम  
 और शांति के संदेश को टुंगया जा रहा है । सम्प्रदाय-  
 वाद के झूठे सितण्डास में धन का महान् अपव्यय  
 किया जा रहा है और शिक्षा जो राष्ट्र और समाज के  
 निर्माण के लिये परमावश्यक है, उस की थोर उचित  
 ध्यान नहीं दिया जाता । इस क अतिरिक्त अद्वितीय रा  
 एक कारण और भी है । जैन साहित्य को देखने में यह  
 स्पष्ट पता चलता है कि जैनधर्म किसी समय में विद्वानों  
 का धर्म था किन्तु अहिंसा प्रधान धर्म होने के कारण  
 इस के अनुयायियों ने न्यूनतम हिंसा वाले व्यापार  
 व्यवसाय को अपनाया । व्यापार से लक्ष्मी का आगमन  
 स्वामाधिक है और लक्ष्मी के चक्र में पड़ा हुआ मानव  
 अपने धर्म और सस्कृति को भूल जाए या उस की उद्देशा  
 करदे यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं । अन्तु, वर्तमान  
 समय में जैनधर्म व्यापक रूप में व्यापारियों का धर्म ही  
 रह गया है । जो भी कुछ जैन धर्म का प्रचार यत्र तत्र  
 दृष्टि गोचर होता है उस का श्रेय जैनगुनि राजों को

जाता है । लोग जैन सन्तों पर नुक्ता चीनी अग्रय करते हैं किन्तु मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि यदि जैन मुनिरत्नों ने जैन धर्म के प्रचार का भार अपने ऊपर न लिया होता तो जो भी जैन धर्म का प्रचार और जैनागमों का पठन पाठन आज दृष्टिगोचर होता है उस का भी अभाव होता । व्यापारी लोग जैन धर्म के वर्तमान प्रचार को भी कायम रखने में समर्थ न हो पाते ।

अस्तु, जैनधर्म के प्रचार, सामान्य ज्ञान और सुधार को ही दृष्टि में रखकर 'अमण-मस्कृति की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ की रचना की गई है । अमण शब्द जैन और बौद्ध दोनों के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ जैन से ही अभिप्राय है । मस्कृति शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है । मस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश नहीं डाला गया है । जो कला आदि विषय अग्रशेष रह गए हैं उन पर दूसरे ग्रन्थ में प्रकाश डाला जाएगा ।

पञ्चाय रिमानन के समय मुझे अपना पुस्तकालय लाहौर में ही छोड़ कर आना पड़ा । इस ग्रन्थ के कुछ अध्याय तो मैंने लाहौर में ही लिख डाले थे, शेष यहाँ आकर तैयार किये । यहाँ लिखते समय अमीट मभी

ग्रन्था की प्राप्ति के अभाव में उद्धृत स्थला में मुझे अपनी स्मृति से ही काम लेना पडा । अतः उद्धृत सभ्य है कि कई स्थानों में उद्धरणों की तथा अन्य अशुद्धियां रह गई होंगी । आशा है विद्वत् पाठक मुझे उन के लिये क्षमा करेंगे और यदि उन के विषय में सूचित करने का कष्ट करेंगे तो मैं उन का बहुत ही कृतज्ञ हूँगा ।

अन्त में मैं जैनधर्म के सुयोग्य विद्वान् श्री डाक्टर-  
बनाग्मीदाम जी जैन गम् ए, पी एच डी का बहुत  
२ धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने ने इस ग्रन्थ की भूमिका  
लिखने का कष्ट किया है ।

पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ कर लाभ उठावेंगे तो मैं  
अपना परिश्रम सफल समझूँगा ।

स्टेडियम, पटियाला

३०-१-५१

नम्रनिवेदन —

पुरपोषम



## ॐ भूमिका ॐ

प्रोफेसर पुष्पोत्तम चन्द्र जैन द्वारा रचित “श्रमण-मस्कृति की रूपरेखा” नामक ग्रन्थ को पढ़-कर मुझे अत्यन्त दुर्घट हुआ। लेखक ने इस ग्रन्थ की नींव लाहौर में ही रखी थी और इस के कई अध्यायों के बारे में मुझ में चर्चा भी की थी। मेरी बड़ी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो- जाए तो पाठकों को बड़ा लाभ होगा। अब इस ग्रन्थ को मुद्रित होते देख कर इस का परिचय कराने में मुझे बड़ा आनन्द होता है।

प्रो० पुष्पोत्तम चन्द्र जी जैन शास्त्री, एम ए , एम ओ एल कुछ समय तक ‘जैन विद्या मन्दिर’ लाहौर में मेरे साथ भी काम करते रहे। वहाँ इन को तुलनात्मक अनुमन्थान में बड़ी रुचि हो गई। फिर ये ऐचिमनशालेज लाहौर में प्रोफेसर हो गए और डाक्टर आफ फिलामफी की डिग्री प्राप्त करने के लिये शीलाभाचार्य कन ‘महा-पुनिस चरिय’ पर थीमिस लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस निमित्त इन को जैनाचार्य श्रीमद्विजयशङ्करमहेश्वर जी म० मरधर प्राचीय मन्त्री मुनिश्री जगन लाल जी म० तथा

मुनि श्री पुण्य पित्रय जी म० जैमे विद्वान् मन्त्रा को मेरा  
में रहने का सांभाग्य प्राप्त हुआ । पर तु पञ्चाय विभाजन  
क कारण श्रीमिस का काम समाप्त नहीं हो सका ।

उपर्युक्त कथन से भलीभाँति सिद्ध होता है कि  
श्री पुष्पोत्तम चन्द्र जी ने तुलनात्मक अनुसन्धान में पूर्ण  
योग्यता प्राप्त करने के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की  
है । यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक विषय का विश्लेषण  
जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों के दृष्टिकोण से किया है ।  
वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों भारत के महान् धर्मों की  
सरकृतियाँ साथ २ चली आई हैं और तीनों में परस्पर  
प्रभाव पड़ता रहा है । बहुत सी बातों में जैन सरकृति  
वैदिक और बौद्ध सरकृति से प्रभावित हुई और बहुत सी  
बातें जैन सरकृतिने वैदिक और बौद्ध सरकृति को मिखाईं ।  
अतः जैन सरकृति का पूर्णरूप से समझने के लिये वैदिक  
और बौद्ध सरकृति का समझना परमावश्यक है ।

प्रस्तुत पुस्तक में जैनधर्म विषयक कई एक महत्त्वपूर्ण  
प्रश्नों पर विचार किया गया है जो इस के अध्याय शीर्षकों  
से ही प्रकट होता है । पुस्तक की रचना शैली श्रद्धा होने के  
साथ २ सरल और सरम भी है । कर्ता ने अपने कथन  
की पुष्टि के लिये यत्र तत्र अनेक शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं ।

इम के पढ़ने से जहा जैन सस्कृति या विद्वान् आनन्द ले  
मरता है वहा मानान्य पाठक भी लाभ उठा सकता है ।

देखने में आता है कि अजैन जनता में जैन धर्म के  
घारे में अनेक भ्रमभूलक धारणाएँ पाई जाती हैं, इम  
पुस्तक में बड़े राचक ढङ से उनका निराकरण किया  
गया है । पहला अध्याय पढ़ने से पता चलता है कि  
जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में लोगों के कैसे विचित्र  
और अमन्य विचार हैं । श्री पुस्तोत्तम चन्द्र जी ने एक-  
एक को ले कर उन का खण्डन किया है । इसी  
प्रकार जैनधर्म और राजनीति, के प्रकरण में वैदिक राज-  
नीति की अज्ञेय जैन राजनीति की विशेषताएँ बड़े ही  
सुन्दर ढङ्ग से वर्णन की गई हैं । जैनी लोग अपने  
राजनैतिक स्वतन्त्र विधानों से प्रायः अपरिचित हैं । उन  
विधानों का दिग्दर्शन इस प्रकरण में कराया गया है ।  
'अनेकात्मवाद' और 'अमण-सस्कृति में ईश्वर का स्थान'  
इन अध्यायों में ग्रन्थ कर्ता की दार्शनिक विद्वत्ता का पता  
चलता है । दार्शनिक विम्लेषण के साथ २ कर्ता ने  
सामाजिक सुधार की दृष्टि नहीं खोई । यही बात अन्य  
अध्यायों की है ।

लेखक ने जैन मठ की वर्तमान दशा पर भी गहरी स्पष्ट आलोचना की है । गढ़ा इस का वह जागृतमान भूत और कहा आजकल की परिस्थिति । इस पर केवल आलोचना ही नहीं की गई बल्कि इसे सुधारने के उपाय भी बतलाए गए हैं ।

हमारे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक जैन और जैनैतर दोनों के लिये गहरी ही उपयोगी सिद्ध होगी । जैन लोग तो इस को पढ़कर अपने धर्म की भूत और वर्तमान दशा को जान सकते हैं । जैनैतर लोग इस के पढ़ने से जैन धर्म विषयक असत्य धारणाओं को छोड़ कर उस का वास्तविक स्वरूप समझ सकेंगे ।

पञ्जानी विभाग,  
पटियाला,

३०-१-५१

बनारसीदास जैन एम ए,  
पी. एच डी

( निवृत्त प्रोफेसर पञ्जाब यूनिवर्सिटी )

## विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
✓ १-जैनधर्म की प्राचीनता	१
२-श्रुतियों की आति म जैनधर्म	६
३-श्वेताम्बर मत की प्राचीनता	१५
४-जैनधर्म और राजनीति	२५
५ जैन धर्म में व्रण-व्यवस्था	४८
वैदिक व्रण व्यवस्था	४६
व्रण व्यवस्था का प्रारम्भ	५०
अनेक व्रतियों की उत्पत्ति	५१
जैन व्रण व्यवस्था	५६
६-जैन धर्म में व्रण-व्यवस्था	६५
✓ ७-जैन धर्म में स्त्री का स्थान	७३
वैदिक धर्म में स्त्री का स्थान	७६
जैन धर्म में	८५
विवाह	८६
पदार्थ प्रथा	८८
धार्मिक जीवन	९०
नारी सम्मान की पराकाष्ठा	९४
८-अहिंसा परमो धर्म	१०४
वैदिक धर्म में हिंसा अहिंसा पर दृष्टिपान	१०५
जैन धर्म में अहिंसा तत्त्व की स्थापना	११०
राज विता व विचार	१२१
दशक पुण्य क्या करें ?	१२१



	पृष्ठ
'अहिंस' शब्द निषेध	१२५
अहिंसा की मर्यादित व्याख्या	,
द्विगुण और अहिंसक उत्थान	१२६
प्राचीन भारत की अथर्व व्यवस्था	१२७
शरीर भ्रम	१२८
मेधा विहाय दाया	१२९
अहिंसा समाज का माण्डू है	१३
हिंसा अहिंसा विषयक बोद्धे दृष्टि काण्ड	१३०
८-अनेकान्तवाद	१३७
अ दृष्टान्तों पर प्रभाव	१३८
✓ जीवन में धर्म की प्रधानता	,
धर्म का नाम पर	१३९
एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म	१४३
सत्त नगी	१४४
समन्वय	१४७
स्थापना के वक्तमान अनुयायी	१४९
संगठन की आवश्यकता	१५०
संयुक्तता वातावरण	१५१
९-भ्रमण-संस्कृति में ईश्वर का स्थान	१५४
ईश्वर विषयक ज्ञान की उत्पत्ति का मूल	१५५
अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति	१५७
वैदिक मत पर	१५८
वेद में ईश्वर सत्ता	१५९
ईश्वर की सृष्टिकता है	१६०
वेदान्त दर्शन में ईश्वर	१६२

	पृष्ठ
द्वैतवादा	१६३
अद्वैतवादा	"
सांख्य में प्रकृति और पुरुष	१६४
सांख्यशास्त्र में ईश्वर की परिभाषा	१६५
अमण सृष्टि में ईश्वर	१६७
ईश्वर सृष्टिकता क्यों नहीं ?	१६८
जैन मन्तव्य	१७१
सृष्टि की उत्पत्ति	१७२
ईश्वर का समार स मन्तव्य	१७३
बौद्ध धर्म में ईश्वर की मायता	१७४
बौद्ध धर्म में निवाण	१८६
बौद्ध परम्परा में जलिकवाद	१७८
निर्य सत्य	१७९
धर्म निकाय	"
एकाम ग्यान की प्रधानता	१८१
१७ अमण सृष्टि का स्वरूप	१८३
सृष्टि का परिभाषा	"
सृष्टि और सम्भवा	१८४
अमण सृष्टि की विशेषताएँ	१८६
कर्म विपाक	१८७
भौतिकवाद और आत्मतत्त्व	१८८
पञ्च महाव्रत	१८९
सत्य	१९२
अस्तित्व	"
✓ ब्रह्मचर्य	१९३

	५३
अपरिम	१६५
तप की प्रमानता	१६६
सामाजिक जीवन	१६८
गृहस्थ धर्म	२००
विवाह	२०१
भ्रमण सङ्कलित व प्रवक्त	२०४
भ्रमण-सङ्कलित की मान्यता	२०५

## शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	यानुषाम	चानुषाम
३	१७	‘निषाणमामय’ इत्यादि पाठ कल्पमूत्र का टीका का है । कल्पमूत्र का पाठ इस प्रकार है — “तुषि समेय मिहरमि” पृ० २०८ आ० ७	
६	१६	इत्पीण	इत्पीण
७	१०	प्राचन	प्राचीन
१६	२६	सारङ्गे	सारङ्गे
२६	४	शास्त्रव	शास्त्राय
२७	२	ग्रन्था	ग्रन्थो
२८	२४	बुद्ध	बुद्ध
२९	२	रात्राश्र	रात्राश्रा
३०	३	स्मरण	स्मरण
॥	८	श्रुत्यज्ञान	श्रुत्यज्ञान
॥	६	विम्वारा	विम्वारा
,		वृद्धनीति	वृद्धनीति
३२	१७	तापते	तापिते
४३	६	दुष्टय	दुष्टय
॥	१८	बिना	बिना
४६	१६	व यमस्या	वर्ण-वदम्या
,		सिद्धय	सिद्ध
५२	१९	वय च	वय च
६३	१७	तवा विम्वारा	तवो विम्वारा
७३	१२	नारायाम्	नारायाम्
८२	२३	ब्रामान्त	ब्रामान्त

पृष्ठ	पंक्ति	श्रगुद	शुद्ध
८४	६	जनन	जननी
९४	२१	आमा	आगामी
१००	८	बह	बह
११७	१३	मना	मारना
११८	५	सामा	नीमा
१२५	१२	उद्याग	त्रा उद्योग
"	१८	चत्र	चीत्र
१३३	१९	भातीष	भारताष
१४१	८	पचार	प्रचार
१५०	१६	जन	जैन
१५७	२०	सहार	तहार
१६१	८	भूम	भूमि
१६२	३	नमसात्	समवर्ति
१६४	६	जवा	जाषो
१६६	३	कम भा	काम भी
१७३	२०	जा	जा
१७४	४	द्वेषदि	द्वेषादि
"	१३	जवन	जीवन
"	१४	भवान्	भगवान्
१८६	३	रीव	रीव
१८२	४	और	और
१८५	६	मनु य	मनुष्य
१८३	२१	सस्कृति	सस्कृति
२०१	१८	मागमनी य	मागवर्तिन्य
२०२	१९	द्वित्रिमा	द्वित्रि मा



॥ प्रीयता भगवान् श्रुपमश्नो ॥

# ॥ जैन धर्म की प्रार्थना ॥

जैन धर्म की उत्पत्ति के विषय में हमें ज्ञान है कि यह धर्म अनादि का है। बहुत समय तक तो कुछ भारतीय लोग यह मानते थे कि यह धर्म बौद्ध धर्म की ही एक शाखा है। मगर अब हमें ज्ञान है कि गौतम बुद्ध ने जो धर्म प्रचारित किया वह बौद्ध धर्म है। जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। हमें ज्ञान है कि कुछ विद्वान् यही मानते हैं कि यह धर्म बहुत प्राचीन है। इस धर्म का नाम है। इस धर्म के प्रभाव के कुछ गौतम बुद्ध ने जो धर्म प्रचारित किया वह बौद्ध धर्म है। कि महावीर स्वामी वास्तव में यह धर्म प्रचारित किया है। उद्धान है जैन धर्म का अस्तित्व है। विद्वानों ने यह धर्म प्रचारित किया है। स्वामी अवश्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। तथैकरो का नाम लिया गया है। समय की प्रगति के साथ धर्म प्रचारित किया है। बड़ी २ गौतम बुद्ध ने जो धर्म प्रचारित किया वह बौद्ध धर्म है। काल्पनिक धर्म नहीं है। अनेक गौतम बुद्धों ने जो धर्म प्रचारित किया वह बौद्ध धर्म है।

त्रिस प्रकार वैदिक मन्त व के अनुसार परमात्मा इस सृष्टि की संहार के बाद ' यथा पूर्वमकल्पयन् ' पूर्व की तरह पुन निर्माण करता है और पूर्व की तरह फिर भगवान् अनेक अवतारा व रूप में अवतरित होता है । इसी प्रकार जैन धर्म में भी समय समय पर पुनर्वन्त त र्यकर अवतार होने ग्ते हैं और जैन धर्म व ज्ञान की स वता का प्रकट करते रहते हैं । यह धर्म इसी प्रकार निरंतर चलता रहता है । जैनधर्म क आदि ताथकर भगवान् ऋषभ स्वामी व और अतिम दा भी पार्श्वनाथ की और भगवान् महावीर जी । जैनधर्म का वैदिक धर्म से तुलना के साथ साथ इस बात का ध्यान रखना बरम बर्यक है कि वैदिक धर्म सभार का आदि और अन्तमानता है कि तु जैन धर्म सभार का अनादि और अनन्त मानता है । अतएव जैन धर्म में वैदिक सिद्धांत की तरह सृष्टि की उत्पत्ति और संहार नडा होने किन्तु सृष्टि का प्रवाह उसी प्रकार अनंत काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा ।

हा । जैसे कि पहिले लिखा आ चुका है कि पहले तो जैनधर्म को बौद्धधर्म की शम्भा माना जाता था फिर मगधरे स्वामी को जैनधर्म का उत्तरादक माना जाने लगा किन्तु अन्तक का खान के परिशाम स्वरूप पैनों व २३ व तीथकर आ पार्श्वनाथ जी को भी ऐतिहासिक वृत्ति माना आ चुका है । उदाहरण व लिखे महावीर स्वामी को के पिता । सदाय कश्यप गोत्र के व और जातृ सृत्रिय वे । नाथकुल चदे' ऐसा कल्प मूर में भी पाठ आता है । महावीर स्वामी को उन व जीवन काल में भी लोग ' जातृ पुत्र' व नाम से जानते थे । पाली में 'नात' शब्द को ही कहते हैं । इस प्रकार 'जातृ पुत्र' का अर्थ होता है 'नात पुत्र' । 'नाथ पुत्र' और 'नाथपुत्र' की समानता प्रत्यक्ष है । बादो के 'सामाज्जल सुत्त' में नात पुत्र क धर्म का बरन करते हुए इस प्रकार लिखा है -

## ‘यातुयाम मारर सबुत्तो’

इस में यातुयाम शब्द उड़ा ही सार गमित है। पाश्चात्य विद्वान् जैकबोनी ने लिखा है कि यहा यातुयाम शब्द महावीर और २३वे तीर्थंकर पारानाथ इन दोनों के सिद्धान्त प्रचार की भिन्नता दिखाता है। पारानाथ के समय चार ही महाव्रत थे। जैसे अहिंसा, सत्य अस्तोष, और परिग्रह त्याग। ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत का तो महावीर स्वामी ने ही सम्मिलित किया अतएव पारानाथ का धर्म ‘यातुयाम’ और महावीर का ‘पचयाम’ है। इस प्रकार ‘पचयाम’ का प्रचार करने वाले भगवान् मारर से भिन्न ‘यातुयाम’ के प्रचारक जैनधर्म के २३वे तीर्थंकर भी पारानाथ का ही ऐतिहासिक चरित्र ही कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस के अतिरिक्त जगल का सम्मत शिखर जो पारानाथ पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है जैना के प्रधान तीर्थों में से एक है। भद्रबा-रचित ‘कल्प सूत्र’ जिस का रचनाकाल ईसा पूरा ३०० वर्ष करीब है उस में भी पारानाथ जी के विषय में वर्णन आता है उस का एक उद्धरण इस प्रकार है —

“निर्वाणमासन्न संमेताश्चैव ययौ प्रभु ।

(कल्पसूत्र—पृष्ठ १६८)

अर्थात् निर्वाण के समय भी पारानाथ प्रभु इसी समेत शिखर पर आए और वहीं से मोक्षपद को प्राप्त हुए।

इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य विरचित “त्रिपिटकश्लाका पुरुष चरित्र में भी -



ज्ञात्वा निराणुमामत्र समेतादौ ययौ प्रभु ।

त्रयस्त्रिंशमुनि मुनो मामवनशनं व्यगत् ॥

( त्रिष श पु ४ पृष्ठ २१६ )

अर्थात् निराणु न समथ श्री पार्श्वनाथ प्रभु समेत शिखर पर आण ।  
२३ मुनि भी उन के साथ वे और उड़ाने वहाँ महीने का अनशन  
भी किया ।

इस प्रकार के व्रतन प्रभु पार्श्वनाथ के विषय में ज्ञात्वा में वन  
तब उस ऐतिहासिक सत्य की पुष्टि करने हैं, जिस के आधार पर  
अनन्तक परवरा स चले जाने समेत शिखर को पार्श्वनाथ पहाड़ी के  
नाम से पुकारा जाता है । इस तरह जैन धर्म क २३ वे तीर्थंकर श्री  
पार्श्वनाथ की स्वामी ऐतिहासिक ध्यति सिद्ध हो जाते हैं ।

उपसुक्त विस्तरण से पात्रक यह न समझे कि श्री पार्श्वनाथ  
प्रभु ऐतिहासिक पार्श्व सिद्ध हो चुके हैं । इस कारण जैनधर्म का प्राग्भूत  
उन से ही समझना चाहिये । ऐसा समझना साथ से दूर जाना होगा ।  
भगवान् महावीर और श्री पार्श्वनाथ प्रभु इन दो अवतारों के अतिरिक्त  
अथ २२ तीर्थंकरों के विषय में हम भले ही आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि  
से महत्व रखने वाले प्रमाण देने में असमर्थ हैं किन्तु हम का अध  
यह नहीं कि वे वास्तव में काल्पनिक ही हैं । उन के जीवन के विषय  
में कुछ एक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन्हें महत्व दिया जाना चाहिये ।  
मथुरा में ककाली टाले की गुर्गई सचुत से जैनधर्म क प्रताक  
अवशेष निकले हैं । इनका समय ईसा पूर्व २०० वर्ष है । यहाँ से जो  
शिलालेख मिले हैं उन में भर्ता न अपनी भद्राञ्जलि श्री कृष्णनाथ  
श्री स्वामी को इस प्रकार दी है —

प्रीयता भगवान् शृणुम श्री ।

या रहे कि अग्रिम स्वामी जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हैं। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी शिलालेखों में “नमःश्रितान्” आता है। जिनका अर्थ स्पष्ट है कि एक या दो नहीं किन्तु बहुत से तीर्थंकरों का भद्राञ्जल दी गई है। यदि भगवान् महावीर स्वामी या पारसनाथ प्रभु ने जैन धर्म का प्रारम्भ हुआ है तो तो उन दोनों के या एक के नाम लिखकर ही भद्राञ्जलि दी जाती। ऐसा न कर के आदि तीर्थंकर जयम स्वामी का नाम शिलालेखों में आता है। जिन का भद्राञ्जल दी गई है और उनके अतिरिक्त बाकी के सब तीर्थंकरों का भद्राञ्जलि दी गई है। इस से यह स्पष्ट है कि श्री अग्रिम स्वामी से लेकर अन्य सब तीर्थंकर समयक्रम पर अवतार ले चुके हैं और उन सबके लिये हाकड़ली दल के शिलालेखों में भद्राञ्जलि अर्पित की गई है।

निश्चन्देह हमारे पास ऐसे असाध्य और वजनदार प्रमाण नहीं हैं जिनके आधार पर जैन धर्म तीर्थंकरों का ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध कर दिया जाए किन्तु जैसा ऊँचे उच्चरास्त्र द्वारा हाथी आयेगी और इतिहास पर दृष्टि डाला जाता है वहाँ पर आदि तीर्थंकरों की वास्तविक मानें स्थापित हो माना जाने लगेंगी। पहिले तो लोग जैन धर्म का नौद्ध धर्म से पृथक् अस्तित्व ही नहीं मानते थे किन्तु अब मानते हैं। पहिले तो लोग भगवान् महावीर स्वामी और पारसनाथ प्रभु को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते थे, किन्तु अब सभी विद्वान् मानते हैं। भविष्य में जैसे ही प्रमाण मिलते जाएंगे वे सब ही अन्य तीर्थंकरों को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया जाएगा।

वैदिक धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद की कुछ विशाल इमा पूर्व १२०० वर्ष मानते थे और कुछ २५०० वर्ष मानते थे किन्तु मोहन जोड़ो नगर की खुदाई के बाद का मोर मुह है उस के आधार पर—

अब विद्वान् लोग अम्बेद को ३ ००० वर्ष का पुराना मन्ते लगे हैं। इस प्रकार अमात्य भिन्न पर पृथक् विचार रह जाते रहते हैं। मुझ पूर्ण विश्वास है कि भविष्य की रात्रि अवश्य ही सञ्झटों व व्यनित्व पर सत्त्वपूर्ण प्रकाश डालती।

हा यही प्रसंगवश यह दर्शाना अनगत १ हागा कि न्तने प्राचीन ऋग्वेद तथा अथर्व । में वन तन तीवद्धर भा नाम आते हैं। नैस—  
य स्मत्प्रथमः ऋगभाः उक्तो यशमेवा अस्मृष्टम आहुता ।

ऋग्वेद १०/६१/१४

स तेमि रात्रा परियाति विद्व १ प्रभा पुष्टि अद्यमानोऽयम म्याहा ।

यजु० ६ २५

ऋग्वेद और यजु १० के इन दो मन्त्रों में जैनियों व आदि तथेद्धरों की अप्रभ त्वाभी और २२० तीवद्धर भा मिनाथ का नाम आया है। इस से भी जैन धर्म का प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश पड़ता है।

इस के प्रतिरिक्त जैन धर्म का प्राचीनतम नाम "निगम" पदयण" अर्थात् निम य प्रवचन या जैन शब्द का प्रयोग तो सवत् १००० के लगभग प्रयोग में आने लगा। इस के पूर्व जैन शब्द का प्रयोग बहुत ही कम होता था। और हमने स्थान पर निम य प्रवचन" का प्रयोग होता था। जैनधर्म भी इस सत्य की पुष्टि करते हैं।

जैसे —

'नयण दाहामु तुम नियट्टा' ।

उत्तराध्ययन अ० १२ श्लो० १६

' नो इत्थीणं कद् कदित्ता हवइ मे निगम ये '

उत्त० १६/२

इसी प्रकार आचारान्त आर कल्प सूत्र आगमा म भ निर्व य शब्द  
जैन साधु साध्वियों ने लिखे ही प्रमाण म आता है ।

बौद्धों ने धर्म ग्रन्थ 'मग्गलि निघण सुत्त' म निग्गट्ट  
शब्द का प्रयोग किया गया है । अशोक ने शिलालेखों म भी 'निग्गट्ट'  
शब्द आता है, जिन का अभिप्राय जैन साधुओं से रहा है । बौद्धों ने  
विश्वको म तो स्पष्ट बताया गया है 'निग्गट्ट' बौद्धों ने प्रतिष्ठा दी थी ।  
इस से यह स्पष्ट है कि निग्गट्ट बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन काल से चल  
आ रहा है और वे समय से पर बौद्ध धर्म का बड़ा विरोध करते रहे ।  
इस प्रकार 'निग्गट्ट' शब्द के प्रयोग से भी जैन धर्म भारत का बहुत  
प्राचीन धर्म सिद्ध होता है ।

महानाण्डा और हड़प्पा की खुदाई में भी अवशेष निकले हैं  
वे भी जैन धर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश डालते हैं । हड़प्पा से  
एक लाल निकली है जिस का चित्र लाहौर के डॉक्टर बनारसादास  
जैन द्वारा सम्पादित 'जैन विद्या' नामक त्रैमासिक पत्र के मुखपृष्ठ  
पर दिया गया है । हड़प्पा ने इस अवशेष पर कायोत्सव मुद्रा म खड़े  
हुए एक यागो की मूर्ति है । ध्यान रहे कि तरभवा का कायोत्सव  
ध्यान की प्रथा जैन धर्म म ही परंपरा से चली आ रही है । यागो का  
इस मूर्ति के सिर पर सफरख है, जिन का समान तान दिखाई देता है ।  
जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर मुरारिनाथ और तेइमवे तीर्थंकर पार्श्व  
नाथ के सिर पर भी इसी प्रकार के सफरख पाए जाते हैं । यह मूर्ति  
पार्श्वनाथ की तो हो नहीं सकती क्योंकि उन को हुए तो करीब २७००  
वर्ष हुए हैं । याद करने वाले विद्वानों ने इस कायोत्सव की मूर्ति वाली  
हड़प्पा की लाल का ५००० वर्ष पुरानी माना है । अतः यह मूर्ति जैन  
धर्म के मानवें तीर्थंकर मुरारिनाथ का होनी चाहिये । इस

इस मात्र से कवन नैनघम न बहुत मानन हाने का ही पता नहीं चलता कि तु नैनिया के साथ तर्ककर सुभाषनाथ न वक्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है। इनमें काह आश्रय नहीं कि भविष्य में और कुछ मार्जन अवशेष मिल जायें, त्रिन के आधार पर पाशवनाथ की तरह साथ तीव्रकर श्री सुभाषनाथ का भी ऐतिहासिक वक्ति मान लिया जाय। त्रिन प्रकार और तक अतीत काल के अवशेषों ने भविष्य के इतिहास पर सर्व का प्रकाश डाला है और उन उम्बन बनाया है, इन प्रकार भविष्यमें भी दाता रहेगा।





समिभण को प्रकट करता है। जैसा व मातृ और तैसवे तीर्थकारों के शिरो पर सपरण के चिन्हा का भा होना कुछ २ उसी प्राचीन समयका भी भजन हो सकता है। अपने २ धर्म ग्रन्थों के अनुसार हम भले ही इन चिन्हा का जैसा चाहे अर्थ कर लें किन्तु साथ २ वले आते धर्मों के पारस्परिक प्रभाव का छिगाया नहीं जा सकता।

द्राविड़ जाति व लोग जि हैं आय अपना शत्रु मानने व और अनाय कह कर पुकारते व अन्त म आय लोगों का प्रभावित करने में सफल हुए। यहा तक कि वे हिन्दू ही नहीं ब्राह्मण बन गये। किन्तु विशपता यह रह कि ब्राह्मण बनकर भी वे द्राविड़ जाति से अलग नहीं हुए। द्राविड़ जाति का गारव सदा उन व सामने रहता था। आय जाति व मूलपुरुष मनु का भा उहा ने द्राविड़ बना डाला। भागवत पुराण में लिखा है —

योऽसा सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडश्चरः ।

स वै विवस्वत पुत्रो मनुशसोदिति श्रुतम् ॥

अथात् सत्यव्रत नाम का राजर्षि द्रविड़ राजा ही वैवस्वत मनु बन गया।

इस श्रोक में तो आया की उत्पत्ति ही द्राविड़ों से होने का प्रयत्न किया गया है। जो बताया असत्य है किन्तु तत्कालीन द्राविड़ों के व्यापक प्रभाव का इस से स्पष्ट पता चलता है। आय जाति शायद द्राविड़ लोगों को इतना प्रभावित न कर सकी बितना द्राविड़ ने आय जाति को किया। सुशाम्य विद्वान् पण्डित रघुनन्धन शर्मा जी वैदिक सभ्यता के पृष्ठ ३७७ पर लिखते हैं कि रावण भी द्रविड़ राजा था और उस ने वेग पर भाष्य निरता था। तिसमय वस सुरापान, मांसभक्षण, व्यभिचार और लिंगभूषणादि सब दूषित बातें द्रविड़ों से ही आया में आई।

भो मिश्रवन्तु जो भारत धर्म के इतिहास भाग १ पृष्ठ ६८ पर लिखते हैं कि —

‘ प्राचीन प्रार्थना के अवलोकन से इतना अनुमान होता है कि यह अनन्य लोग भूत, प्रेत पार्ति और उच्च आदि को पूजते थे । आर्य मन से सद्वक्ताली आदि के पूजन-विधान तत्कालिक अनायम्भत की छाया से समझ पड़ते हैं ।’

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि द्राविड़ और आर्य आदि या धर्मों में संपर्क के पश्चात् मेल हो गया था और दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया । निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कौन सी प्रथा किनसे किनसे अपनाई क्योंकि धर्मग्रन्थों में त्रिष पाठ की विद्वानों का एक दल प्रचिन मानता है उन्नी को दूसरा दल मौनिक स्वीकार करता है ।

जैन धर्म की हम भारत में अनादि काल से चली आती धर्म मानते हैं । अब प्रश्न यह है कि अब द्राविड़ और आर्य आदि में संपर्क चल रहा था और जब अन्त में दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया । उस समय जैन धर्मका भी अस्तित्व मिलता है या नहीं । अभी तक मेरे देखने में तो कोई ग्रन्थ नहीं आया, जिस में उस समय के जैन धर्मके इतिहास का पता चल सके । हा यत्र तत्र जैन और वैदिक धर्म के ग्रन्थों में कुछ उद्धरण अवश्य ऐसे आते हैं जिनमें हम तत्कालीन जैन धर्म के अस्तित्व का पता लगा सकते हैं । जैसे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का “दर्शन सार” नामक एक ग्रन्थ है । इस में बहुत से जैन संप्रदाय की स्थापना बताई गई है । दर्शनसार में लिखा है कि धर्म नन्दी ने मधुरा में द्राविड़ सभ्य की स्थापना की । मूल सभ्य की देव, नदी, सिंद सेन नाम की चार



उन चारों में द्राविड़ सभ का स्थान नही मिला। वज्रनन्दा ने एक स्वतन्त्र ही द्राविड़ सभ का स्थापना की। एक विद्वान् ने तो द्राविड़ सभ का नन्दी सभ की ही शाखा माना है किन्तु मुझे उनका युक्ति सन्तोष जनक प्रतीत नहीं होती। आप लिखते हैं कि “अध्वनी ने मूल सभ का चार सभों में विभक्त किया और द्राविड़ सभ का उदय नहीं रखा। यदि द्राविड़ सम्प्रदाय प्राचीन होता तो इन चारों में अध्वन्य आता अतः यह वाद की स्थापना है।”

यह युक्ति कोई सारपूर्ण प्रतीत नहीं होता। मैं कहता हूँ कि भी मूल सभ के साथ २ चले आते द्राविड़ सभ में कुछ सैदान्तिक मत भेद हो जिन के कारण अध्वनी ने उसे अपने नवीन चार सभों में रखना उचित न समझा है। अतएव चार सभों में द्राविड़ सभ का न रखा जाना उसकी प्राचीनता का बाधक नहीं है। अपने कथन की सिद्धि के लिए आप लिखते हैं कि “एक गुलाम वयं जिन में बड़े २ ब्रेन हुए हैं और जिस का द्राविड़ सभ से महा सम्बन्ध था वह भी नन्दी सभ का ही भेद था”। एक गुलामवय का न ही सभ की शाखा मानने में हम कोई आपत्ति नहीं किन्तु द्राविड़ सभ का एक गुलामवय से सम्बन्ध माप उसे नन्दी सभ की शाखा किमी मूलतः सिद्ध नहीं कर सकता।

११६० ईस्वी के रिवाज में जो द्राविड़ सभ के अनुयायी भूत गौरी, पुण्डित और समस्त भद्र आदि नाम आए हैं उन्हें द्राविड़ सभ के प्रचारक और उत्पत्ति पथ पर खाने वाले मानना अधिक सगत मालूम होता है। द्राविड़ सभ से सम्बन्ध रखने वाले या उस के अनुयायी भद्रबाहु जिनका स्वगारोदण काल बीर सन्त १७० है उनको केवल छेपक ने उनकी स्मृति बाए रखने के लिये लिख दिया है। ऐसी

उपना करना भा नहीं जँचता । इस लिय द्राविड़ सभ का भा मूल से भा प्राचीन या उमर काव २ चला आता सभ मानन में कोई धारा मालूम नही देती ।

इस प्रकार जैन धर्म में द्राविड़ सभ की स्थापना से यह प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि द्राविड़ जाति का न बौद्ध ऐसी शान्ता अवस्था थी जैसा जैन धर्मावलम्बी थी । या दूसरे शब्दों में प्राचीन द्राविड़ जाति में जैनधर्म का अस्तित्व भी द्राविड़ सभ की स्थापना में कारण हो सकता है ।

जैन साहित्य व अतिगिन बौद्ध साहित्य में भी कुछ समानता इस सत्य के पोषक है । जैनधर्म के आदि न संन्यास आदि सभ माने जाते हैं । भागवत् पुराण में ऋषभ को वैष्णवों का इन्द्रिय दत्ता है श्री हनु में वर्णित ऋषभ जलन चरित जैन द्राविड़ सभ की बहुत मिलता जुलता है । इतना समानता है कि हमें यह मानना कि ये दोनों वैदिक और जैन ऋषभ मिले हैं, यह सत्य है कि ये दोनों वही पुरुष हैं वही श्लोक आता है —

कविर्हरि रत्तरिच प्रसूत निरालम् ।

आविर्होत्रोऽथ द्रविडजनक इत्यत्र ॥

यहां द्राविड़ शब्द विशाल अर्थ में आता है । यह सत्य है कि स्वामी को हम आदि तीर्थंकर मानते हैं । इन के पुत्र का जन्म भी द्राविड़ जाति में जैनधर्म का इन्द्रिय दत्ता है । यह भागवत् पुराण में इन राजकुमारों के अनेक वन वा शिव के बाले बताया है कि तु वना जन्मे मैं हूँ मैं देता था यह और जैन धर्म का उस सत्य — यह सत्य है दूसरे के सिद्धांतों को प्रतिनिधित्व माना है ।

उत्तुन प्रमाणा म यद शय है कि त्रेनधम आयो व आगमन  
 व वा प्रचलित धमा म से न्य है । अयो के आन के वधत् भी  
 हम न उन स कगवर डकर ला अर अग्ने उत्तुन मिद्धा ती के पलन  
 विर आय धम भी बन गया । मयव आन पर क बार वर भारत का  
 राष्ट्रधम भी बना । हम व उत्तुन मिद्धा-न्ता १ ही हमे वदिक और बौद्ध  
 जैस परिधिधमो में आवत रमा । बुद्धधम जैम अगक राष्ट्रधम भारत  
 से लुनप्राप हो गए किन्तु त्रेनधम अग्ना अस्तिरर बगाये हुए है ।



# “श्वेताम्बर मत की प्राचीनता”

जब किसी समाज धर्म या सम्प्रदाय में अनेक दुष्टियां तथा अन्याय अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है तो उन्हें सुधारन के लिये किसी सुधारक महापुरुष का जन्म होता है और वह अपने दृष्टिकोण व अनुकूल किसी नये धर्म या सम्प्रदाय को जन्म देता है। इस प्रकार अनादिकाल से प्रवाह रुग सत्तार में समय, परिस्थिति तथा वातावरण व परिवर्तन व कारण अनेक धर्म और सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती रहता है। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थिरता उस के सिद्धान्तों पर निर्भर है। यदि उन के सिद्धान्त समयानुकूल हैं और समाज के लिये उपयोगी हैं। तो उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और स्थिरता निश्चित है। यदि उस के नियम समय विरुद्ध हैं तथा समाज को अवनति पथ पर लाने वाले हैं तो उन का अस्तित्व शायद मिटने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यही कारण है कि सत्तार में आश्रयक सकड़। ऐसे धर्म या सम्प्रदाय उत्पन्न हुए वा अल्पकाल के लिये ही बने फूल और उत्तरोत्तर समय विरुद्ध हान के कारण वे धर्म मिटते गए कि आज उन का नाम निशान भी नहीं रहा। वा समयानुकूल थे तथा जिनकी नींव सत्य और समर्थ पर रखी हुई थी वे अनेक प्रातराष्ट्रों का सामना करते हुए अश्रयक अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और सत्तार को उनत पथ की ओर से आ रहे हैं। जैनधर्म भी उन्हीं महान धर्मों में से एक है। इस में भी यद्यपि उत्तरोत्तर अनेक सम्प्रदाय बनते जाते हैं परन्तु वास्तव में परंपरा से चले आने वाले

सीमित है। इस क अतिरिक्त वेद मन्त्रों में जो ऋग्भिन् शब्द आया है। वह भी ध्यान देना योग्य है। ऋग्भिन् का अर्थ है लग्ने २ बालों वाला। वास्तव में लग्नी २ बटाव्यों को धारण करने वाले पिन्हे हम आज भी महती संख्या में भारत क क प्रदेशों में पाते हैं। वहिक सम्प्रदाय के ही साधु होने चाहिये, दिगम्बर बन के नहीं। दिगम्बर साधु विशाल केश धारा नहीं धारण जात। अतः ऋग्भिन् के मन्त्र से यह निश्चय करना कि श्वेताम्बर स दिगम्बर प्राचीन हैं सम्भव नहीं हो सकता।

वर्तमान जैनधर्म के लिए जो 'जैन' शब्द प्रचलित है इस का प्रयोग भगवान् महावीर स्वामी क बाद स प्रयोग में आन लगा है। इस क पूर्व 'तैर्यंकर धर्म' को 'निगन्ध पवण' अर्थात् निर्मन्ध प्रवचन के नाम स पुकारा जाता था। महाराज अशोक क शिलालेखों में भी पत्र पत्र 'निगन्ध' शब्द का प्रयोग आता है। वही 'निगन्ध' स अभिप्राय जैन धर्म स ही है। कुछ विद्वान् निर्मन्ध का अर्थ बखर रहित करते हैं और उससे यह सिद्ध करते हैं कि अशोक के समय में जो जैनधर्म प्रचलित था वह दिगम्बर जैन था क्योंकि दिगम्बर जैनों की ही मूर्तियां तथा साधु नम्र पाए जाते हैं। इस प्रकार ये 'निर्मन्ध' शब्द का व्याख्या स दिगम्बर सम्प्रदाय का श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मेरे विचार से निर्मन्ध, शब्द का अर्थ उन्धने ठीक नहीं समझा। 'निर्मन्ध' शब्द में 'प्रणि' शब्द का अर्थ वास्तव में राग द्वेषादि स धन करना हा उचित जान पड़ता है। आत्मा, जो बंधन में डालने वाले वास्तव स राग द्वेष ही हैं न कि बाष्पापकरण रूप वस्त्रादि। वस्त्रादि, बाष्प परिग्रह का धारण करने वाले शरीर स स्पर्श। आत्मा यदि रागद्वेष आदि स मुक्त हो जाय, तो उसे प्रणि रहित समझना चाहिये। आध्यात्मिक मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है जिस क द्वारा रागद्वेषादि

शत्रुओं का नाश होता है। कर्मादि बाह्योपकरण आत्म धर्म में किसी प्रकार की भी बाधा नहीं डाल सकते। क्या वस्त्राणि बाह्योपकरणों से दूर रहन माय से आत्मा कभी रागाणि द्वेषो से मुक्ति पा सकता है। आवश्यक भी हमारे सामने ऐस अन्नक उदाहरण हैं जहाँ वस्त्रादि बाह्योपकरणों के मदमाव में भी पवित्रात्माएँ छिपी मिलती हैं। और इस व विपरीत बाह्योपकरणों से तीन शरीरों में रागद्वेषाणि से मलिन आत्माएँ बतमान हैं। अत आत्म धर्म में बाधक ज्ञान का अभाव हो सकता है कर्मादि का सम्भाव या अभाव उस के लिय अपक्षित नहीं। कितने आश्रय की बात है कि आज विश्व सत्ता के युग में भी कितने ही समझदार पुरुष इन बातों को इतना महत्व देते हैं। अस्तु, मेरे विचार से 'निर्ग्रन्थ' का अर्थ रागद्वेषाणि बंधन मुक्त करना सम्भव है। इस प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द के आधार पर दिगम्बर मतमाय का प्राचीनता सिद्ध नहीं हो पाती।

देवसनाचार्य कृत दशमहार नाम का एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक स्थाक आता है जिस के आधार पर कुछ विद्वानों ने दशम्वर मत का श्वेताम्बर मत से प्राचन निद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल क्रिस्व मवन् ६६ है। वह स्थाक इस प्रकार है —

छातामे वरिमसण विक्कम रायस्म मरणपत्तस्स।

साएट्टे एलहाउ उप्परणो सेवडो सत्ता ॥ श्लोक ११।

अर्थात् विक्कम का मृत्यु के ११६ वर्ष पश्चात् श्रीराष्ट्र देश के वल्लभी पुर में श्वेताम्बर सच की उत्पत्ति हुई।

इस से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि विजय की दूसरी मी में ही श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

से पूर्ण दिगम्बर सम्प्रदाय ही परंपरा से चला आता था। मेरे विचार से उपर्युक्त दर्शनसार का उदाहरण कई महत्व नहीं रखता क्योंकि इस प्रकार का एक उदाहरण श्वेतांबर ग्रन्था में भी आता है। वह गाथा इस प्रकार है —

छद्माम स त्सेहि ननुत्तरेहि सिद्धिगयस्स जीरस्स ।

तो धोड़ियाँ दिहरी रहयोर पुरे समुपमा ॥

अर्थात्—वीर भगवान् के मुक्त होने के ६०६ वर्ष पश्चात् धोड़ियों अर्थात् दिगम्बरों का प्रवर्तक रघवी पुर में पैदा हुआ।

इस के अतिरिक्त दर्शनसार के उदाहरण के आधार पर यदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति विष्णु का मृत्यु के ११६ वर्ष पश्चात् मान ली जाए तो एक बड़ी अड़चन सामने आती है। महाराज प्रशोक के पश्चात् कलिदाधिपति न्वावेल बना। वह जैन सम्राट था। उदयगिरि और लण्डगिरि स्थित हस्तिगुहा नामक गुफा से जो न्वावेल का शिलालेख मिला है उस का सुयोग्य विद्वान् भी के० पी० जयसवाल ने विवरण दिया है। इस लेख का समय ईस्वीसन् से १७० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। सम्राट न्वावेल किस प्रकार जैन साधुओं को अनेक प्रकार के कीरोस और श्वेतवस्त्र बाँटा करते थे इसका इस शिलालेख में बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। यदि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विष्णु की दूसरी शताब्दी में हुई होती तो न्वावेल का ईसा पूर्व १७० में जैन साधुओं को श्वेत वस्त्र बाँटना कैसे संभव हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि दर्शनसार की गाथा दिगम्बर मत की प्राचीनता को सिद्ध नहीं करती।

संगर में बितने भी उसकोटि के धर्म हैं प्रायः सब अध्यात्मिक दृष्टि से पुरुष और स्त्री को समान अधिकारी समझते हैं। सब धर्मों के

प्राचीन प्रमाणिक ग्रन्थों में पुरुष और स्त्री दोनों का ज्ञान न समान अधिकारी माना है। गत विश्व युद्ध से भी यह स्पष्ट है कि महिला जीवन क्षेत्र के किसी भी विभाग में पुरुषों से 'यून' नहीं रही हैं। साहित्य, विज्ञान और राजनीति आदि क्षेत्रों में स्त्रियों ने ऐसा प्रवीणता दिखाई है जिस विमी भी अश में पुरुषों से कम नहीं कहा जा सकता। यद्यपि हमारे देश में स्त्री जाति को अपना जाति अथवा निबल जाति के नाम से पुकारा जाता है किन्तु उसार क इतिहास में स्त्री जाति ने ऐसे वीरता के कारनाम मिलते हैं जिन क सामन पुरुष का भी मिर झुकाना पड़ता है। भारत के अति प्राचीन धर्म ग्रन्थों से भी यह स्पष्ट है कि स्त्री ने पुरुष के समान ही अधिकार प। यहां तक कि यज्ञ में भी पत्नी के बिना पति दीक्षित न हो सकता था। राम ने अधमेष पक्ष किया ता सीता ने अभाव में उन को स्वयमयी मूर्ति बना कर रखनी पड़ा। गार्गी की विद्वत्ता से विद्वान भनी भाति परिचित हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म ग्रन्थों में स्त्री का स्थान कमकाएक तथा ज्ञानादि क्षेत्रों में समान है। प्राचीन उपलब्ध शिलालेखों तादृश लिखित ग्रन्थों और मूर्तियों आदि के आधार पर जा गवेषणा हुई है उन से यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म अनेक नदियों में भारत का पापक धर्म रहा है। इतने महान् और व्यापक धर्म के साथ चलना और अपना संप्रथम जीवन बिताना एक ऐसे ही धर्म के लिये सम्भव हो सकता है जिस के सिद्धान्त या सो अपने प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले के हो या किसी दृष्टि में उस से भा उत्कृष्टता रखने ह। मेरे विचार में यदि जन धर्म प्राचीन काल में स्त्री का ज्ञानक्षेत्र में पुरुष के समान अधिकारिणी न मानता तो वैदिक विद्वान् उनकी ऐसी बिल्ही उड़ाते और उसका ऐसा सफ़ादन करते कि आज का धर्म अस्तित्व भी शायद कल्पना से रह पाता।



समय परिवर्तन के साथ २ नमर की परिस्थिति सदा चरम होती रहती है। वा ज्ञानि, धर्म वा सम्प्रदाय अपने को समय के अनुकूल बना सता है वही अपना अस्तित्व बनाय रख सकता है। जिस में समयानुकूल परिवर्तित ज्ञान की रचना नहीं है उसका भिन्न ज्ञान स्वाभाविक है। किन्तु कितने आश्रय की बात है कि ज्ञान के वैज्ञानिक और विकासवाद के युग में भी कितने पंडित पति भी पुरानी अवधारणा के शीत से मुक्त नहीं हो पाए हैं। अतः, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अब धर्मों का तरह जैन धर्म से भी श्री का पुण्य के समान ही ज्ञान की अधिकारिणी माना है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय को अनेक नाथों इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

जैन धर्म के सिद्धान्त उद्दे दिगाल और महत्पूर्ण हैं। जैन धर्म मनुष्य मात्र का चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो सके का अधिकारी मानता है। जैन धर्म की विशालता देखने के लिये भी हमें आकाश का अप्रालिम्बित आकाश स्थान देना योग्य है। अब आचार्य श्री वैदिक मत के देवता आचरण साम्राज्य के मन्दिर के जानने आए ता उ हो न करे —

भवक्षीनाकुर जनना रागाणां सधमुपागता यरय ।

ब्रह्मा वा विष्णु ग हरो विनो वा नमस्तस्मै ॥

अर्थात्—मगर में उत्पत्ति के मूल कारण रागादि चित्तों नष्ट हो गए हैं ऐसा देवता चाह उसका नाम ब्रह्मा हो विष्णु हो शिव हो या त्रिन हो उसको मैं नमस्कार करता हूँ। इतनी विशालता रखने वाला जैन धर्म श्री को मुक्ति की अधिकारिणी न मानता यह समभव नहीं। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि श्री को मुक्ति की अधिकारिणी न मानने वाला दिगम्बर मत बाद का है और श्वेताम्बर जैन उस से प्राचीन है।

। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि वीर निवाण सन् ६८० ( विक्रम सन् ५१० ) के आगम पास जैन सभ वज्रभापुर ॥ देवर्षि गण्डि समाभरण की अध्यक्षता में एकत्रित हुआ । अब तक आशास्य ज्ञान प्राचीन परम्परा से मिलता था उस का कई कारणों से लाप हाता भी प्रारम्भ हो गया था । उस का विस्तार रूप से फैलाव संभव न था । अतः सभ का ध्यान हम आर गया कि आगम और अन्य साहित्य को एकत्र प्रथित करना परमावश्यक है । ऐसा करने से यह ज्ञान भविष्य के लिये सुचारु रूप से सुरक्षित भी रह सकता था और हम का सांख्यिक प्रचार भी पूर्ण रूप से हो सकता था । अतः सभ का अनुमति से बिस्वरे हुए आगम तथा अन्य साहित्यिक ज्ञान का एकत्र प्रथित किया गया ।

दिग्भर सम्प्रदाय का साहित्य इस साहित्यके बहुत पश्चात् लिखा गया है । यह बात न के लिये उदाहरण से स्पष्ट है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतों के अनुसार जैनधर्म के चौबीसवें संन्यस्त पहिले देवान दा ब्राह्मणी ज्ञान में आए पश्चात् इन्द्र की आज्ञा से हरिनेमिना देवता ने उन्हें क्षत्राणा प्रशाला के गभ में रखा । यह वचन कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में आता है इसका विस्तार पूर्वक वचन पटना हो स पाठक कल्पमूत्र में पढ़ सकते हैं । दिग्भर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस प्रकार की घटना का कोई उल्लेख नहीं और न ही दिग्भर लोग इस बात को मानते हैं । श्वेताम्बरों के मत की प्रामाणिकता के लिये मथुरा के ककाली टीले से एक शिला मिली है जिस पर भगवान् महावीर स्वामी के गभ हरण का बड़ा सुंदर चित्र खुदा हुआ है । लिपि उल्लेख के मुरघर विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह शिला शेष ईस्वी सन् से एक शताब्दी पहले का खुदा हुआ है । इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की प्राचीनता भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

प्रकाश डालती है। उपर्युक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि विक्रम संवत् ५१० के लगभग कहलभी पुर में त्रिषु ज्ञान का ग्रन्थित किया गया था वह प्राचीन परंपरा से चला आता ज्ञान है। अतः साहित्यिक दृष्टि से भी श्वेतांबर सम्प्रदाय विगवर सम्प्रदाय से प्राचीन ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार विगवर शब्द के अर्थ सङ्गवेद की श्रुति से निम्न य शब्द की परिभाषा से, दर्शन सार के उदाहरण से और साहित्यिक दृष्टि से तो श्वेतांबर सम्प्रदाय से विगवर सम्प्रदाय प्राचीन नहीं ठहरता। श्वेतांबर ही विगवर से प्राचीन सिद्ध होता है। हाँ भविष्य में होने वाली नई गवेषणाओं से यदि विगवरों का प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले और नए कुछ प्रमाण मिल जाएं तो दूसरी बात है। यह लेख केवल गवेषणात्मक दृष्टि से लिखा है नाप्रदायिक दृष्टि से नहीं। यदि अब भी ऐसे अकाट्य प्रमाण मिल सकें जिनसे विगवर श्वेतांबरों से अधिक प्राचीन सिद्ध होने से तो हमारे लिये कम प्रसन्नता की बात नहीं।



# ★ जैन धर्म और राजनीति ★

वैदिक, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म बहुत प्राचीन काल से साग २ बहे आने हैं। यों 'तां तीनों धर्मों के आचार्यों ने 'अहिंसा परमाद्यम' अर्थात् अहिंसा ही मानव का महान् धर्म है इस सिद्धांत को अपने २ दृष्टिकोण से उचित स्थान दिया है किन्तु जैन धर्म में अहिंसा का सिद्धांत अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका है। अहिंसा का अतिरूप चाहे आश्रमकाल के समय के अनुकूल हो चाहे प्रतिफल उस से परा कोई मतलब नहीं है। मैं यह बात अवरुध दावे के साथ कह सकता हूँ कि अहिंसा का वास्तविक, तात्त्विक या शुद्ध स्वभाव ऐतना ही ता जैन धर्म में ही मिल सकता है। जैनधर्म में हिंसा ११ प्रकार की मानी गई है, द्रव्य हिंसा आर भाव हिंसा। द्रव्यहिंसा का सामान्य अर्थ है किसी जीव को प्राणों से विमुक्त करना या बूझरे शब्दों में उस मारना। भावहिंसा वह होती है जिस में विचार से किसी जीव का अहित किया जाता है। द्रव्यहिंसा का निषेध तो अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों में भी अपने २ दृष्टिकोण से उचित रूप से ही किया गया है किन्तु भाव हिंसा की जितना महत्वप्रद स्थान जैन धर्म ग्रंथों में दिया है उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जैन शास्त्रों में भाव हिंसा का सूक्ष्मस्वरूप नीचे दिये उदाहरण से पाठकों को स्पष्ट हो जाएगा।

विजय की ११ वीं शताब्दी में गुजरात प्रान्त के पा न नगरमें राजा कुमार पाल राज्य करता था। पहिले वह कुल परंपरागत वैष्णव धर्म

का अनुयायी था और बाद में उस ने सत्कामीन प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री हेमचन्द्राचार्य व मभाव में आकर जैनधर्म को स्वीकार किया । जेनाचय ने राजा कुमारपाल का जैनधर्म की भली भाँति शिक्षा और उस से भासाहार का त्याग करवाया । वह जैनधर्म व मित्रात्मा से इतना प्रभावित हो गया था कि वह बाल्य में अपना जीवन उन के अनुकूल ही बनाने लग गया था । एक दिन वह बड़ा उदात्त मन हाकर गुहदेव के चरणों में आया, और प्रायश्चित्त की प्रार्थना करने लगा । गुहदेव ने पूछा - प्रायश्चित्त कान, स अराध के लिये करना चाहते हो । राजा कुमारपाल ने कहा कि आज मैंने अपने आहार में गिरी या खुम्बो की सब्जी लाई । उस गिरी की सब्जी को दाँतो से चबा रहा था तो मुझे पूरा अनुभूत मान का सा स्वाद आने लगा और मेरी रुचि परित्यक्त मात्र की आर गई । अतः वह मानसिक या भाव दिसा था । आर मैं उस के निवारण के लिये प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ । आचार्य ने कहा - हाँ इस प्रकार की भावमयी या मानसिक दिसा व लिये अक्षय प्रायश्चित्त करना होगा । आर इस का प्रायश्चित्त यह है कि तुम एक पत्थर का टुकड़ा लेकर स्वयं अपने हाथ में अपने दाँतो का ताड़ देना । आशा पाने ही कुमारपाल ने भट्ट दाँतो को ताड़न के लिये पत्थर उठाया किन्तु वह प्रहार करने को ही था कि गुहदेव जी ने भट्ट उसका हाथ पकड़ लिया और कहा - प्रायश्चित्त हाँ गया है । तुम ने वास्तविक दिसा या द्रव्य रूप दिसा नहीं की किन्तु भाव रूप में की थी । अब तुम ने अपने दाँतो का ताड़ने का इद निश्चय कर लिया है अतएव इस भावमयी अदिसा से उस भावदिसा का निवारण हा गया है ।

उपर्युक्त उदाहरण से पाठकों का भली भाँति स्पष्ट हा गया होगा कि जैनधर्म का अदिसा कितनी चरम सीमा तक पहुँचा हुई है ।

द्रव्य हिंसा के ता अनेक सुन्दर उदाहरण आप का वैदिक और बाद  
धर्म ग्रंथों में भी मिल जायेंगे किंतु भाव हिंसा के इस प्रकार के  
उदाहरण अन्यत्र कम ही देखने में आते हैं। जैन धर्म मन, वाणी,  
और कर्म इन तीनों से हिंसा के परित्याग की शिक्षा देता है।

जैन धर्म में "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अतिरिक्त  
में देखकर कई जागीर के मन में ये शक्य उठा करती हैं कि यदि  
जैनियों के हाथ में किसी देश का राज्य सौंप दिया जाए तो मिलने  
वर्षों अराजकता के सिवाय और क्या हो सकता है। वो हानि की  
को मारना आप समझते हैं वे दह प्रधान राज्य का कितने बड़ा नुक़्ते  
हैं। जैनी राजा किसी प्रकार की भी हिंसा करने के विरुद्धैर न  
होगा और राज्य का ख़ताना हिंसा, क़त्लना मरणा इत्यादि है।  
प्रजा में ख़ोर, लुटेरे, धूर्त, और आतताइयों का कुछ दख़ल न होना  
स्वभाविक है और उन का दशाने के लिये हिंसा का आशय भी  
अनिवार्य है। इस के अतिरिक्त कोई कमतर निदो राधा यदि  
चलाई कर दे तो यह सदा ही म जैन राजा का ख़तना पुनान  
बना सकता है और साथ २ उस की प्रजा का हानि। जैन राजा कम  
भी हिंसा के भय से शत्रु से युद्ध करना पना न पना। हिंसा से पर  
परतन्ता को अच्छो समझेगा इस लिये वैदिक धर्मो का धर्म है।  
भारत वद में इस धर्म के अनुयायी भी प्रायः कितने ही वर्य हैं। किन्तु  
जाति कभी भी वीरता के लिये प्रसिद्ध नैर्य ठाटा कातरता  
काई दणात देना हा ता जरूर साथ वैदिक धर्मो के दते हैं।

इस प्रकार के विचार रखने वल मन्त्रों के विरुद्धैर  
में यह बताना चाहता हू कि जैन धर्म इन्टर परपर है  
इन्द्रियों का . . . है। यही धर्म है कि

वश्य को ही सब से बड़ा वश्य माना है। जैन धर्म के तत्पङ्कुर भी क्षत्रिय वश्य में ही अवतृत हाते रह रहे हैं। जैसे २ जैन समाज-व्यवस्थाओं पर अहिंसा के सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ता गया वे अन्य कृषि आदि कर्मों का छोड़ कर वाणिज्य की ओर झुकते गए क्योंकि वाणिज्य में अल्प व्यवसायों की अपेक्षा हिंसा कम हातो है। वाणिज्य के प्रभाव से वे बड़ी सख्या में पूँजीपति बनते गए। पूँजी के प्रभाव से उनमें बलात् प्रियता भा आ गई और विनाश प्रियता के ज्ञान से जैसा अकस्मर लक्ष्मी का प्रभाव होता है उनसे बोरता के भाव भा नष्ट होने लग गए। इस प्रकार कई सदियों के निरन्तर वाणिज्य-व्यवसाय के प्रभाव के परिणाम स्वरूप आज वे शुद्ध वैश्यों के रूप में हमारे सामने बतमान हैं। अतः आज की जैन समाज में यदि बोरता के अंश को कमो है। उनके लिये जैन धर्म को या जैन धर्म के सिद्धान्तों को दाप पुन नहीं ठहराया जा सकता। महात्मा बुद्ध का यदि कोई अनुयायी हिंसक हो तो इससे महात्मा बुद्ध का या बुद्ध धर्म का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मरा तो यह विश्वास है कि प्रत्येक धर्म का संस्थापक या सुधारक उस धर्म के सिद्धान्तों का ही अपने अनुयायियों के सामने रखता है। किन्तु देश काल और परिस्थितियों के कारण यदि उन सिद्धान्तों में परिवर्तन आ जाता है या उस धर्म के अनुयायियों उन सिद्धान्तों में अपनी दृष्टिकोण के अनुसार परिवर्तन कर लेते हैं तो इसमें किसी संस्थापक या सुधारक का दाप नहीं हाता।

अब रही बात जैन राजा के राज्य की, अराजकता की और उसकी शत्रु द्वारा सदा दामता की। इस प्रकार की बातें वही लोग कर सकते हैं जो जैन शास्त्रों के मतव्य से सम्बन्ध अनभिज्ञ हैं। जैन शास्त्रों में अनेक व्यवस्थाओं के राजाओं को कहावियों और जीवनियों मिलती हैं। जैन राजा अहिंसा का उचित स्थान देने हुए भी सुचारु रूप से

रक्षक का प्रयत्न करना कि वे और पूरा शक्ति से शत्रु का सामना करने  
 देश का रक्षा करते थे । यहाँ जैन शास्त्रों में आए चरित्रों जैन शास्त्र  
 के जीवन से कई उदाहरण मिलने का मकान है किन्तु प्रायः नक विचार  
 के विद्वान् उन्हें पौष्णिक कथाएँ कह कर अस्वीकार कर देंगे । अतः  
 ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से त्रिमकी उपस्था नहीं की जा सकती  
 ऐसा उदाहरण देकर ही पात्रों को जैन धर्म में गण्य माना जा दि शो न  
 करी का प्रयत्न किया जायगा ।

त्रिम प्रकार वैदिक आर आठ घम में राजनीति पर अनेक ग्रन्थ  
 उपलब्ध होने हैं इसी प्रकार जैन धर्म भी अब अत्यन्त य शिखर पर था  
 तब इसके विद्वानों ने भी राजनीति विषय पर ग्रन्थ लिखे थे । जैसे २  
 जैन राजसत्ता उठती गई जैन राजनैतिक साहित्य का मूल्य भी कम  
 होता गया और वह नि प्रति दिन सुप्त होता रहा । त्रिम की दृष्टि  
 की शताब्दी तक केवल “अद्वैती शास्त्र” के उद्धारण यव तब  
 मिलने थे । अभी तक यह पता नहीं चल सका कि जैन राजनीति  
 पर लिखे इस ग्रन्थ का क्या कीन था । इन शास्त्र का पता भी हमें  
 हेमचन्द्राचार्य द्वारा “लघुदर्शनी” नामक ग्रन्थ से मिलता है । कुमार  
 पाल राजा ने अनेक गुह भी हेमचन्द्राचार्य से यह प्रार्थना की कि वे  
 जैन राजनीति पर छाना छा कर तैयार करें । इन पर हेमचन्द्राचार्य  
 ने “लघुदर्शनी” नामक ग्रन्थ की रचना की । इस ग्रन्थ के  
 अन्तर्गत एक बाद लिखा है —

कुमारपालमापालामदेण पूर्व-निर्मितान् ।

अद्वैताचार्यमिषाण्डाञ्जल मारमुद्देश्यं लिपितम् ॥ १/६

भूप प्रजा हितार्थं हि रक्षामृति विधायकम् ।

लघुदर्शनीति मन्त्ररत्न मुद्रणाय करण्यम् ॥ १/७



ब्रह्मा ने मृत्यु से ब्राह्मण की, भुवाओं से क्षत्रिय की, उरु से वैश्य का और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति की। जैन मन्त्राय भी इन के साथ प्रायः मिलता जुलता ही है। जैन धर्म के आदि पुराण के अनुसार भगवान् श्रृणभदेव ने हाथ में तलवार पकड़ कर क्षत्रियकी, उरु से चलने का शरत करने पर्य की और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति का। ब्राह्मणों की उत्पत्ति बाद में श्रृणभ स्वामी के पुत्र भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मृत्यु से की।

जैन धर्म में वसु-वस्त्रा प्रारम्भ से कम से मानी जाती है किन्तु वैदिक धर्म में विशेष ज़ार वस्त्र से वसु-वस्त्रा मानने पर दिया है। यद्यपि वैदिक धर्म ग्रन्थों में ऐसे भी अनक प्रमाण हमारे सामने हैं जिन से वसु-वस्त्रा कर्म से सिद्ध होती है किन्तु व्यापक रूप से धर्म से ही वसु-वस्त्रा प्रचलित रहा है। मरते विचार में जैन शास्त्रों में प्रतिपादित कम वसु-वस्त्रा का परित्याग कर आत्र की जैन समाज को व्यापक रूप से जन्मगत वसु-वस्त्रा को मानने लगी है यह जैनियों पर वैष्णवधर्म का ही प्रभाव है।

इसी प्रकार शत्रु पर घटार करने के समय के विषय में भी प्रायः दोनों एक मत ही हैं। जैसे —

मार्गशर्षे शुभे मासि यायाद्यात्र महापति ।

कालगुण दाड्य चैत्र रा मासौ प्रति यथा वल्लम् ॥

मनु० अ० ७ अ० १८२

अथवा पवित्र अंगहन के मास में राधा युद्ध की यात्रा करे अथवा ऐसी अग्नी सामग्य हो उस के अनुसार कालगुण अथवा चैत्र के महीने में शत्रु के राज्य पर आक्रमण करे।

अयेष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् भूय जयम् ।  
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यमने चोत्थिते रिपो ॥

मनु० अ० ७ श्लोक १८१

अर्थात्— राजा जब अपनी जीत निश्चय करने तथा लक्ष देने कि शत्रु इस समय विपत्ति में पड़ा है तब वह शत्रु किसी महीने में युद्ध के लिए यात्रा करे ।

अब पाठक बरा बैन राजनीति की ओर ध्यान दें —

सुमुहूर्ते मुशरुने मार्गोदौ माम् सतके ।  
युद्धं कुर्वीत राजेन्द्रो धीर्य काज बलानलम् ॥

लघ्व० पु० २६ श्लोक ३३

अर्थात्— अच्छे मुहूर्त में अच्छे शत्रुन होने पर मार्गशीर्षादि आठ महीना में अच्छा समय देख कर युद्ध के लिये प्रयाण करना चाहिये ।

यहां पर भी भावण भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक इन चार महीनों में युद्ध यात्रा का निषेध कर के अहिंसा धर्म की ओर कितना ध्यान रखा गया है ।

इसी प्रकार बैन राजनीति धर्म युद्ध के वक्त में होते हुए भी यह कहती है कि —

शत्राव्याय निष्ठेतु कर्त्तव्य यथोचितम् ।

लघ्व० पु० १६ श्लोक ६

अर्थात् शत्रु यदि अत्याच पर गुना हो तब तो उस के साथ युद्ध अवश्य करना चाहिये ।

इसी प्रकार दुष्टों को दण्ड देने के लिये और  
के लिये

११ बैन मन्तव्य एक ही है । जैसे

निमग्नेषु तु पापानां साधूनां समग्नेषु च ।

द्विजातय इवेज्यामि पूज्यन्ते सततं नृपा ॥

मनु० अ० ८ श्लोक ३११

अर्थात् - जिस प्रकार द्विज यज्ञों द्वारा पवित्र होते हैं उसी प्रकार राजा लोग पापियों को दह देने तथा साधुओं की पूजा करने, से पवित्र हुआ करते हैं ।

इस से मिलते जुलते लब्धहस्तीति के उदाहरण पर पाठक का दृष्टि डालें -

शिष्टानां पालनं कुर्वन् दुष्टानां निग्रहं पुन ।

पूज्यते भुवने सर्वे सुरासुर नृयोनिभिः ॥

लघ्व० पृ० २२१ श्लोक ६

अर्थात् - सज्जनों का पालन करने और दुष्टों का निग्रह करने वाले राजा लोग सत्तार में देव राजस और मनुष्य सब के द्वारा पूजे जाते हैं ।

बाल बालक और वृद्ध के तीनों मनु और हेमचंद्राचार्य दोनों की दृष्टि में सुस्त है -

क्षतं प्रमुखा नित्यं निपता कार्यिणां नृणाम् ।

बालवृद्धानुराणां व कुपता हितमात्मनः ॥

मनु० अ० ८ श्लोक ३१२

अपना कल्याण चाहने वाले राजा तथा कार्यार्थी बालक वृद्ध तथा रोगी इन के द्वारा होने वाली निन्दा को क्षमा करता रहे ।

बालानुरागिणश्चानुरागाश्च कठिनं वचनं ॥

लघ्व० पृ० २२१ श्लोक ६

अर्थात् - बालक रोगी और अतिरुद्धों के कठिन वचन को भी क्षमा देना चाहिये ।



बाला ब्राह्मण भी घातेतापी बन कर आने लो बिना विचारे ही उसे मार डाले ।

जैन राजा व्याप प्राग में म्रित रहने हुए दण्ड तो मार्येक अपराधी को देना उचित समझते हैं किन्तु अहिंसा धर्म का सदा दृष्टि में रखने हुए वध के स्थान में उसे देश निकाला देना अथवा समझते हैं । मारने की अपेक्षा अपराधी को ऐसा दण्ड देना जिस से वह जीवित रह कर आत्म-परवासाप करता रहे अधिक अच्छा है । अपराधी को मार कर नष्ट करने में कोई मन्त्र नहीं किन्तु उस का ऐसी परिस्थिति में रखना जिस से वह अन्ना भूल को समझ सके उस के लिये प्रायश्चित्त कर सब आर पुन एक न-चरित्र नारायिक बन सके, अधिक अच्छा है । बिगड़ा मशीनरी को नष्ट तो हर एक ही कर सकता है किन्तु उस क पुरजा को ठीक कर पूर्ववत् चला देने वाले का हाँ गौरव हाता है । आज का समय सत्कार भी इस समय को भलीभाँति समझन लगा है और उसी का यह परिणाम है कि बहुत से पाश्चात्य देशों में अपराधियों को मृत्यु दण्ड का विधान रोक दिया गया है । जैन राजनीति में भी मृत्यु दण्ड का व्यवहार अभाव नहीं है किन्तु दूसरे कठिन दण्डों के सन्नाह में इसका त्याग अधिक अच्छा माना जाता है ।

वैदिक राजनीति क अनुसार यदि कोई व्यक्ति अनन्य मर प्राय तो उस की सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी नहीं हो सकती किन्तु ' राजगामी तस्याय सधनम् ' अर्थात् राजा ही उसका अधिकारी होता है । मनु जी का कहना है कि —

वशाऽपुत्रासु वैध म्याद्रक्ष्यं । ननुलासु च ।  
पतिप्रतारुच स्त्रीषु त्रिधनास्वानुरासु च ॥

वध्या, पुनहीना, जिस स्त्रा के कुल में कोई न हो, पतिव्रता विधवा तथा रोगिणी स्त्री के धन का रक्षक राजा होता है ।

चैन गजनीति का मन्तव्य इस से सर्वथा भिन्न है हेमचन्द्र जी लिखते हैं —

अनरत्ने मृते पत्यौ सूर्यस्य दगमिनी चधू ।

अर्थात्— पति यदि निवृत्तान मर जायता उस की सारी सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी होती है । इसी प्रकार आगे —

भ्राटे नाटे च विक्षिप्ते पतौ प्रव्रजते मृते ।

तस्य निश्चेष विपत्तयाधिपास्याद्वरवर्णिनी ॥

पुत्रस्य सत्वेऽसत्यं च भर्तृवत्साऽधिकारिणी ॥

पृ० १९८ स्तो० ५२, ५३

अर्थात्— पति यदि भ्रष्ट हो जाये, नष्ट हो जाये, पागल हो जाये, सन्धासी हो जाये या मर जाए इन सब दान्तों में उस के पुत्र हो चाहे न हो ता पति की सारी सम्पत्तिकी अधिकारिणी उस की पत्नी होता है ।

वैदिक साहित्य में पुत्र का स्थान बड़ा विविध है —

पुत्रान्नान्न नरकाग्रमात् प्रायते पितर सुत ।

वत्समात् पुत्र इति प्रोक्त स्वयमेव स्वयमुवा ॥

मनु अ० ६ श्लोक १३८

अर्थात्— जिस कारण बेटा " पुँ " नाम नरक से पितरों का रक्षा करता है इसी से स्वयं ब्रह्मा ने बेटे को पुत्र कह कर पुकारा है ।

इस कथ की और भी पुष्टि करते हुए मनुजी लिखते हैं —

उद्येष्टम चात मात्रण पुत्री भवति मानवः ।  
पितृणामनृणश्चैव म तन्मात्सर्यमहति ॥

मनु अ० ६, श्लोक १०६

पिता अथ पुत्र के जन्म लेता है। पुत्रवान् हा जाता है और पितृ श्रेष्ठ  
से उद्धरण होता है अतएव पिता का सब धन पाने का अधिकार  
होता है।

इस प्रकार मनु जी के मतानुसार पुत्रहीन मनुष्य की  
गति नहीं हो सकती। वह मर कर नरक में जाता है। अतः पितरों को  
विष्णुदान के लिये पुत्र का होना नितान्त आवश्यक है। मनु जी का  
तो यही ठक कहना है कि पुत्र की उत्पत्ति केवल नरक से बचाता है  
नहीं परन्तु स्वर्ग के मार्ग का खोलन में भी एक निश्चित साधन है।

आप कहने हैं कि —

पुत्रेण लोकाश्चरति पोत्रेणानत्यमश्नुते ।  
अथ पुत्रस्य पोत्रेण अन्त्याप्नोति त्रिष्टपम् ॥

मनु अ० ६ श्लोक १२७

अर्थात्— पुत्र के जन्म लेने से मनुष्य स्वर्गादि लोकों को पाते हैं और  
पौत्र के जन्म से स्वर्ग में चिरकाल पश्यन्त अवस्थिति होता है और  
प्रपौत्र का उत्पत्ति से सुयनोक में निवास किया करता है। इस प्रकार  
मनु जी पुत्र के साथ २ प्रपौत्र को भी स्वर्ग का साधन मानते हैं।

जैन सिद्धान्त इस के सर्वथा विपरीत है। भद्रबाहु संहिता  
में लिखा है—

पुत्रेण स्यात् पुण्यतमपुत्र पापयुग्मवेत् ।  
पुत्रस्य तोऽप्यहस्य ते वामरा वक्ष्याचका ॥ ८ ॥

दृष्टान्तीर्यदृष्टोऽपुत्रा पञ्चकल्याणभागिन ।

देवेद्रूप्यपादाब्जा लोकत्रय विलोकिन ॥ ६ ॥

अर्थात्— यदि पुत्र का उत्पत्ति ही पुण्यवानी का लक्षण है तो सकहो पुत्रो बाना की दुर्गति हाती क्यों दिव्वाद देती है ! इस व विपरीत पुत्र-रहित हीर्षेकर पाच कल्याण के भागी, त्रिलोकदर्शा और इन्द्रादि स पूजित पाए जाते हैं ।

जैन सिद्धांत के अनुसार पिता के कर्मों का भाग पुत्र नहीं और पुत्र के कर्मों का भोग पिता नहीं हो सकता । दोनों को अपने अपने कर्मों का फल स्वतंत्र रूप से भोगना पड़ता है । यदि पिता दुष्कर्म और पापी है और पुत्र सत्कियावान् है तो पिता को तो अपने कर्मों का दण्ड अक्षय भोगना पड़गा ही । पुत्र अपने शुभ कर्मों का शुभ फल पाएगा । उच्चम से उच्चम पुत्र भी पापी पिता के कर्मों को घोने में कभी समय नहीं हो सकता । पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भले ही पिता के कल्याण के लिये कितनी क्रियाएं क्योंकर करे किन्तु वे मृतात्मा के लिये सब व्यर्थ हैं । जैन शास्त्रों में भाद्र क्रिया का कोई मन्त्र नहीं है । पुत्र ऐलौकिक आनन्द का कारण बन सकता है, पारलौकिक क्रिया में पिता के लिये वह कोई मदत्व नहीं रखता यह जैन दर्शन का मन्तव्य है ।

मनु जी ने द्विषमात्र के लिये ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ नृयज्ञ ये पांच यज्ञ माने हैं । इन सब का लक्षण करते हुए आप कहते हैं कि —

अध्यायनं ब्रह्मयनं पितृयनस्तु तर्पणम् ।

होमो देवो चाक्षिर्भोतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥



प्राचीन समय में मलय देश की राजधानी रत्नपुर में अश्वपति नामक राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम चन्द्रचूष था जो कि बड़ा ही दुष्ट और दुश्चरित्र था। रत्नपुर में एक मुबेरदस्त सेठ रहता था जिस ने अपनी कन्या का पाणिप्रमाण वहाँ के एक भेड़ीपुत्र भीक्षु के साथ किया। कन्या वहीं ही रूपवती थी। उस के सौन्दर्य की महिमा चन्द्रचूष ने कानों तक पहुँची। जबकि विवाह तरकार हो रहा था तब चन्द्रचूष उस मुन्दी कन्या को बलपूर्वक दण्ड करने बलिये लोगों की बड़ी भीड़ में पहुँच गया।

राजकुमार के इस दुष्प्रचार से लोगों की बुरा हुआ। नगर के पक्ष मिलकर राजा के पास गए और राजकुमार की इस नीचता की शिकायत की। राजा न्यायप्रिय था और पक्षपात करना तो जानता ही न था। जब उस ने अपने पुत्र की दुश्चरित्रता की बात सुनी तो उसे क्रोध पर बड़ा क्रोध आया। चन्द्रचूष को राजा के सामने लाया गया। राजा ने उसे देखने ही दूरत आशा दी -

तदालोक्य 'किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम् ।

निशात शूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामिति ॥

अर्थात् - इस पापी को यहाँ लाने की क्या आवश्यकता है ? इन को तो शीघ्र ही श्मशान घाट में लाने शूल पर लटका दो।

राजा का मन्त्री बड़ा बुद्धिमान् था। उस ने राजकुमार को दण्ड देने का भार अपने ऊपर ले लिया। वह राजकुमार को जगह में ले गया और वहाँ जैन मुनियों की सेवा में उस दीक्षा दिलाई।

यह थी जैन राजाओं की याव परावृत्ता और निष्पल दण्ड विधान। याव के सिद्धान्त पर बैठ कर वे पक्षपात नहीं दिखाने थे।



सेनाएँ एक दूसरे पर टूट पड़ती हैं। कोई भीरु राजा हुए तो सेना के साथ २ युद्ध में चले गये। नहीं तो अक्सर सेनाएँ हा लूटा करती हैं और राजा अपने आप को महलों में या किलों में सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार दो पक्षों का राज्य लाभ के लिये स्वस्थो मित्रादी युद्ध भूमि में अपने जीवन लवाँटते हैं। जैन नीतियों का यह बात ठीक नहीं लगती। इस कारण उन्होंने बाहुयुद्ध की प्रथा चलाई। बाहुयुद्ध में कबल दो विराथा राजाओं का ही युद्ध होता था। सना उस में भाग नहीं लेती थी। जो राजा जीतता उस से पराजित राजा अधीनता स्वीकार कर लेता। इस तरह सनाओं के युद्ध सखी लावा पक्षियों का सहर होता वह बन जाता। जैन समझने में बाहुयुद्ध न बहुत उपाय मानते हैं। कहते हैं कि नेमि माराज एक बार अचानक हा नगवान् कृष्ण की शस्त्रशाला में चले गए। उन्होंने श्रीकृष्ण की के चक्र का कुम्भार के चक्र की भाँति घुमा दिया। बाहुयुद्ध की मर्यादा की तरह, कामान् की गदा को लाठी की तरह उठा जाना और पाञ्चवय शस्त्र का मुख जोर से बजाया। शस्त्र ध्वनि को सुन कर कृष्ण जी का किसी शत्रु के ध्यान का सदेह दृष्टा और वह तुरन्त ही शस्त्रशाला में आ गए। कहा उन्होंने नेमि माराज का लक्ष्य पाया। दोनों ने बल पराजित के लिये बाहुयुद्ध की ही उचित सम्झना और फिर दोनों का बाहुयुद्ध हुआ।

इसी प्रकार भरत और वात्सल का युद्ध भी बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु दोनों की सेनाएँ लड़ने का उद्योग नहीं किन्तु दोनों के सामर्थ्यों ने मनाओ के युद्ध में कलत्र बन सहर देखकर यही निश्चय किया कि दोनों का बाहुयुद्ध हो और अतः में हुआ भी गये।

इस प्रकार जैनराजनीति में युद्ध के विधान में ४ अंगिता पाली-

धर्म" इस विद्वत् का मत न ऊँचा स्थान है। इस छोट्टे से लेव में पात्रों को भक्त भाँति पना चल गया होगा कि जैन धर्म बाल्य में का धर्म है। जो लाल मसाला श्रवणा कल्पना करते हैं वे जैनधर्म के मर्म से अनभिज्ञ हैं। उन का चाहिये कि वे जैन शास्त्रों का अध्ययन करके इस के महत्व को समझें। इस के साथ २ मैं जैन कुलात्तर सभ्यता में भी निवेदन करना चाहता हूँ कि वे नाममात्र के जैन होने में ही संतोष न समझें। उन का अपनी प्राचीन सत्कृति और प्राचीन गौरव का कभी न भुलाना चाहिये। यदि वे अपने पुत्रों के लिए पथ पर चलेंगे सभी बाल्य में सच्चे जैन कहलाने के योग्य बन सकेंगे।





में वयुष्यवस्था का परिपाटी का दिग्दर्शन नितान्त आवश्यक हो जाता है। तानो घमों की साथ साथ प्रगति होने के कारण तीनों ने जो एक दूसरे की सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला है उसकी उपहा नहीं की जा सकती। सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

## ॥ वैदिक वर्ण व्यवस्था ॥

चारों वेदों में सब से प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है। इस वेद के दस मंडल हैं। प्रथम नौ मंडलों में कहीं भी वयुष्यवस्था का विधान नहीं पाया जाता। दशम मंडल में वयुष्यवस्था का विधान मिलता है जो इस प्रकार है —

प्राक्पणोऽथ सुयमासीद्वाहु राजन्य वृत् ।

उरु तपस्य यद्वैर्य पदूभ्या शुश्राऽजायत ॥

इस मंत्र में प्राक्पण की मुल मे, हस्त्रिय की भुजाओं से, वैर्य की उरु से और शूद्र की पैरों से मुलना या उत्पत्ति ध्यान देन योग्य है।

इस मंत्र के आधार पर बहुत से विद्वानों ने वैदिक काल में अमंगल वयुष्यवस्था सिद्ध करने का कोशिश की है किन्तु भाषा विज्ञान के पण्डितों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद के दशम मंडल की रचना प्रथम नौ मंडलों के बहुत बाद की है। दशम मंडल की भाषा से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि उसकी भाषा प्रथम नौ मंडलों की भाषा से भिन्न प्रकार की है। अतः ऋग्वैदिक काल में वयुष्यवस्था का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

## ॥ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ ॥

वर्ण शब्द का अर्थ है रंग (complexion) । भारतीय आर्य लोगों का रंग गौर और सुन्दर होता था । कृष्ण या काले वर्ण के द्राविड़ आदि जातियों के लाग भी भारत भूमि में घसते थे । आर्य जाति का काले रंग की जातियों से कुछ काल तक संपर्क भी रहा । ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने उन कृष्ण वर्ण जाति के लोगों से जिन्हें वे अनाय या दस्यु कह कर पुकारते थे अपनी उत्कृष्टता की भिन्नता प्रकट करने के लिये ॥ वर्ण शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया होगा । बाद में जैसा कि ऋग्वेद व दशम मण्डल में मिलता है समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभक्त कर दिया । प्रारम्भ में यह वर्ण व्यवस्था कम गत थी अन्य गत नहीं । कोई भी पुरुष अपने उत्कृष्ट या नीच कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन सकता था । यही कारण है कि वैदिक धर्म के प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र बशिष्ठ और दीक्षतमा आदि ब्राह्मण होते हुए भी अपने उत्कृष्ट कर्मों से ब्राह्मण पद को प्राप्त हुए । मनु जी महाराज भी इसी सत्य की पुष्टि करते हैं —

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवतु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

मनु १०/६५/

अप्राप्त जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है उसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जानना चाहिये ।

कुछ काल के पश्चात् वर्ण के स्थान में जाति शब्द का भी प्रयोग होने लगा । वैदिक साहित्य में सर्व प्रथम ॥ शब्द कात्वार्येण

श्रीत सूत्रमें मिलता है । इसमें इसका प्रयोग वर्ष के अर्थ में नहीं किया किन्तु परिवार वा कुल के अर्थ में मिलता है । परन्तु जैसे २ वष व्यथ्या वाम सिद्ध अधिकारों में पसती गइ जैसे २ वष के स्थान में जाति शब्द का प्रयोग विशेष रूप से होने लगा । अन्त में जाति शब्द का प्रयोग इतना अधिक प्रचलित हो गया कि वष शब्द उसके सामने लुप्त हो गया । आज कल भी हमारे देश में सत्र, जाति शब्द का ही प्रयोग होता है । ब्राह्मण वर्ष, क्षत्रिय वष, वैश्य वष और शूद्र वष के स्थान में ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति, वैश्य जाति और शूद्र जाति का प्रयोग करते हैं ।

## ॥ अनेक जातियों की उत्पत्ति ॥

प्रारम्भ में जब वष व्यवस्था का युग शुरू हुआ तो चार ही वष थे । आज की भाषा में चार जातियाँ थीं । इन्हीं चार जातियों में से आज की सैकड़ों जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसका पता बहुत कुछ मनुस्मृतिसे चल जाता है । मनु जी की राजनीति के अनुसार ब्राह्मण को तो चारों वर्गों की कन्याओं के साथ विवाह करने का अधिकार है और बाकी के वष या जातियाँ अपने से नीचे किसी भी वष की कन्या के साथ विवाह सम्भव कर सकती हैं किन्तु अपने से ऊपर वर्ग के साथ नहीं ।

शूद्रैश्च भार्या शूद्रस्य सा च स्वाय विरा स्मृते ।

ते च स्वाचीक राज्ञश्च ताश्च स्वाचाप्रजन्मन ॥

“ मनु० अध० ३ श्लोक १३

अर्थात् - शूद्र ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं । वैश्य को



रुग्ण में निषाद द्वारा उत्पन्न पुत्र “पुङ्गव” तथा रुद्ध से निषा  
क या में वायमान पुत्र कुक्कुट कह जाते हैं ॥ १८ ॥

क्षुत्ता द्वारा उत्पन्न कन्या में कम्मा दुग्धा पुत्र “श्वपाक” कहा  
जाता है । वैदेह से अम्बु नाग्री कन्या में उत्पन्न पुत्र वेणु कहलाता  
है ॥ १९ ॥

द्विजाति की सवणा कन्याओं में उत्पन्न पुत्रों का यदि पशोपवीत  
संस्कार न हो तो वे “प्राण्य” कहे जाते हैं ॥ २० ॥

मात्स्य संतान से पापात्मा “भूजकण्टक” पुत्र उत्पन्न होता है । देश  
में से इसी को ‘आधन्य’, ‘वाटधान’, पुष्पय तथा “शैव” भी कहते  
हैं ॥ २१ ॥

सुरिय जाति की प्राण्य से उत्पन्न पुत्र, भल्ल, मल्ल, निम्बिद्वि,  
मर, करण, स्वस तथा द्विद्वि कहलाते हैं ॥ २२ ॥

आजकल उपलब्ध मूल, आभीर, निषाद और शैव आदि  
अनेक जातियों की उत्पत्ति चारों वर्णों के अंतर्जातीय विवाह सम्बन्धी  
है किंतु प्रकार होती गई यह मनु जी की साम्रज्ञेयिक व्यवस्था से पात्रों  
को भली भौति स्पष्ट हो गया होगा ।

इस के आतिरिक्त लोगों के भिन्न-भिन्न पेशे या व्यवसाय भी  
अनेक नवीन जातियों की उत्पत्ति में नवीन कारण बने । जैसे सोने का  
काम करने वाले स्वर्णकार या गुनार, लाई का काम करने वाले  
लोहकार या सुहार, चमड़े का काम करने वाले चर्मकार या चमार  
बल्ल धोने का काम करने वाले धोबी, खीरकम करने वाले नापित या  
नाई तैल निकालने वाले तेली बल्ल बुनने का काम करने वाले  
त बुधाय या उलाहे इत्यादि अनेक जातियों के नाम उनक काम या  
व्यवसाय के आधार पर पड़े ।

इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त के अनुसार भारत में अनेक जातियों की उत्पत्ति होती गई। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में तो वर्णव्यवस्था कम से ही मानी जाती थी जन्म से नहीं। इसी उत्पत्ति का पुष्ट करने वाला एक श्लोक शुक्लनीति में भी आता है -

विश्वामित्रो वसिष्ठश्च मतंगो नारदादयः ।  
तपोविशेषसंप्राप्ता उत्तमस्य न जातिः ॥

अर्थात् - विश्वामित्र, वसिष्ठ, मतंग, और नारदादि ऋषि तप के प्रभाव से उत्तम पद को प्राप्त हुए जातिसे नहीं। “वाल्मीकि रामायण” के कता महर्षि वाल्मीकि के विषय में तो सब जानते हैं कि वह किस प्रकार नीच जाति में उत्पन्न हो कर भी राम की महिमा से कितने उत्तम पद को प्राप्त हुए। अकस्मती मर्यादा की महाराणी सीता को भी उठोने अपने आभय में आभय दिया था।

विस्तार भय से इस लेख को अधिक न बताते हुए अन्त में मैं यही बताना चाहता हूँ कि वैदिककाल में वर्णव्यवस्था कम से ही मानी जाती थी। उपर्युक्त विवरण से पाठकों को इस सत्य का भलीभाँति पता चल गया होगा। आब कुल की वर्णगत वर्णव्यवस्था की भयान कता ऋग्वैदिक काल में न थी। इस का प्रचार बाद में हुआ और यश तक बताकि नीच से नीच काम करने वाला पुरुष यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ होता वह जाति की भेदता की दृष्टि से दाकने में कोई कसर बाकी नहीं रखता। शुद्ध जाति में पैदा हुआ पुरुष उत्तमसे उत्तम आचरण करने पर भी नीच माना जाता है। बहुत से अशानी पुरुष तो शूद्र की छाया पड़ने पर भी अपने आपको अपवित्र मानने लगते हैं। इस को मूर्खता की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है। यह सही ही

साधुओं की बात माने दीविए, भावक तक लोगों में से जाति भूढ़ता अथवा जाति या कुल मद को दूर करने के साधु प्रयत्न करते थे। रास्ता चलते एक भावक का समागम कुछ ब्राह्मणों से हो गया। ब्राह्मण अपने जाति मद में मत्त थे किन्तु भावक के मुक्ति पथ बचनों से उनका यह नशा काफूर हो गया। वे जान गए कि मनुष्य के शरीर में वर्ण आकृति के भेद देखने में नहीं जात हैं, जिससे वर्ण भेद हो। क्योंकि ब्राह्मण आदि का शरीर के साथ भी गर्भाधान देखने में आता है। जैसे गो चोरे आदि की जाति का भेद पशुओं में है ऐसा जाति भेद मनुष्यों में नहीं है क्योंकि यदि आकार भेद होता तो ऐसा भेद होना संभव था अतः मनुष्य जाति एक है। उसमें जाति अथवा कुल का अभिमान करना बुरा है। एक उच्चवर्णी ब्राह्मण भी गोमांस खाने और वेश्यागमन करने से पण्डित हो सकता है और एक नीच गोत्र का मनुष्य अपने अष्ट आचरण द्वारा ब्राह्मण के गुणों का पा सकता है।

भगवान् महावीर के दिव्य देशों में मनुष्य मात्र के लिए व्यक्ति स्वातन्त्र्य का मूल मन्त्र गर्भित था। भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य का आचरण उसके नीच अथवा ऊँच होने का मूल कारण माना था। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सत्तान कम से चले आए हुए नीच आचरण की गोत्र सजा है। जिसका ऊँचा आचरण है उसका ऊँच गोत्र है और जिसका नीच आचरण है उसका नीच गोत्र है। रहने हो या खी हो अथवा चाहे जो हो गुण का पोष है वही पूजनीय है। देह या कुल की बदनाम नहीं होती और ना ही जातिपुत्र को ही मान्यता प्राप्त है। गुणहीन को कान पूजे और माने। भगवान् भी गुण से होता है भावक भी गुणों से होता है। महावीर की के इस संदेश से जनता की मनमानी मुग़द पूरी हुई और वह अपने

जाति अथवा कुलमन्द को भूत गई थी ।

11

तब भारत में विश्व प्रेम की पुण्य धारा का श्रद्धा प्रवाह बढ़ा । जनता गुणों की उपासक बन गई । ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्यत्व का उसे अभिमान ही शेष न रहा । सब ही गुणों को पाकर भेद बनने की काशिश करते थे । चन्दाकृष्ण सेठ को ही देखिए । उनके गुणों का आदर करके सम्राट् भेषिक ने अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर दिया था और उन्हें राज्य देकर अपने समान राज्याधिकारी बना दिया था । बड़ी बात इनसे परसे हुए सेठ भविष्यदत्त के विषय में धटित हुई थी । वह वैश्य पुत्र होकर भी राज्याधिकारी हुए थे । हस्तिनापुर के राजतिहासन पर आसुद होकर उन्होंने प्रजा का पालन मनुष्यविरति से किया था । सेठ प्रीतिकर को छत्री राजा जयसदन ने आपा राज्य देकर राजा बनाया था । सरासरी स्वतन्त्र अध्येष्ट के आचार से विद्वानों की बड़ी कदना पड़ी है कि उस समय ऊपर के तीन वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य) तो वास्तव में मूल में एक ही थे । क्योंकि राजा, सरदार और विप्रादि तीसरे वैश्य वर्ग के ही सदस्य थे जिन्होंने अपने को उच्च सामाजिक पदपर स्थापित कर लिया था वस्तुतः ऐसे परिवर्तन होने अथवा रुकने से, परन्तु ऐसे परिवर्तनों का होना सम्भव था । गरीब मनुष्य राजा, सरदार बन सकते थे । ऐसे परिवर्तनों के अनेक उदाहरण ग्रन्थों में मिलते हैं । इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के किया काण्ड युक्त एवं सर्व प्रकार की सामाजिक परिस्थिति के पुरुष स्त्रियों के परस्पर सम्पर्क के भी उदाहरण मिलते हैं और वह वैयल उच्चवर्ग के ही पुरुष और नीच कन्याओं के सम्बन्ध में नहीं हैं बल्कि नीच पुरुष और उच्च स्त्रियों के भी हैं ।

नीचे दिया उदाहरण भी इस तथ्य का पोषक है

कथा वृणीते मचित स्वयंवरगतावरम् ।  
कुलीनमकुलीनं वा वमोनास्ति स्वयंवरे ॥

अर्थात् — स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि व अनुसार  
पुरुष का चरण करती है । वहां कुलीन और अकुलीन का विचार  
नहीं किया जाता है । संच मुच उन समय विवाह क्षेत्र अति विशाल  
था । चारों दलों के स्त्री पुरुष सानन्द परस्पर विवाह सम्बन्ध करते थे ।  
इतना ही क्या, भ्लेच्छ और वेरपाओ आदि से भी विवाह होते थे ।  
राजा भेषिक ने ब्राह्मणों से विवाह किया था । उसके ठहर  
से मोक्षगामी अभयकुमार नामक पुत्र हुआ था । वैश्य पुत्र जीवधर  
कुमार ने क्षत्रिय विद्याधर गड्ड के से कन्या गन्धर्वदत्ता का स्वयंवर  
में बीणा कथा कर परास्त किया और विवाह था । स्वयंवर में कुलीन  
अकुलीन का भेद भाव नहीं था । विदेह देश के चरणौ तिनका  
नगर के राजा नाबिन्द की कन्या के स्वयंवर में ऊपर तीन बणों  
वाले पुरुष आये थे । जीवधर कुमार के से मामा थे । जीवधर ने  
चन्द्रक मन्त्र को लेव कर अपनी मामा की कन्या के साथ पाणिग्रहण  
किया था । परलव देश के राजा की कन्या का सप विष दूर करके उसे  
भी जीवधर ने ग्राह्य था । बषिक पुत्र-प्रीतिकर का विवाह राजा  
भवसेन की पुत्रा के साथ हुआ था । विवाह सम्बन्ध करने से शिष्ट  
प्रकार बण भेद का ध्यान नहीं रखा जाता था वेने ही घम विरोध भी  
इसमें बाधक नहीं था । वसुमित्र भेटी जैन थे किन्तु उन की पत्नी  
जन भी अजैन थी । साकेत का मिगार सेठी जैन था किन्तु उसके पुत्र  
पुण्यवधन का विवाह मोक्षमानुवायी सेठ घनजय की पुत्री विशाला  
से हुआ था । सम्राट् भेषिक के पिता उपभेषिक ने अपना विवाह  
एक भील के से किया था ।

भगवान् महावीर के निवासोपरान्त न दशका महानदिन

जैन थे। इनकी राशिषी म से एक शूरा भी थी जिससे महावज्र का ब्रह्म हुआ था। चण्डा व भेड़ो पालित थे। उन्होंने एक विदेशी कन्या से विवाह किया था। प्रातःकर सेठ जब विदेश में घनोपावन के लिये गए थे तो वहाँ से एक रात्रक या को से आए व जिसके साथ उनका विवाह हुआ था। इस काल के पहले से ही प्रतिष्ठित जैन पुरुष जैसे चारुण्य श्रवण नागकुमार के विवाह वेदया पुत्रियाँ से हुए थे। सरासरी, उस समय विवाह सम्बन्ध करने के लिए कोई बचन नहीं था। सुशील और गुणवाली कन्या के साथ उसके उपयुक्त वर विवाह कर सकता था। स्वयंवर की प्रथा के अनुसार विवाह को उत्तम समझा जाता था।”

इसके अनिश्चित उत्तराव्ययन के २५ १ श्रवण की महामुनि की कथा किन जैन भाषक से भूली है। ब्राह्मण युक्त में उत्पन्न हुआ एक जयधाय नामका याज्ञिक ब्राह्मण था। उस समय एक ब्रह्मचारी महामुनि भ्रमण करते करते २ वाराणसी नगरी में पहुँचे और बाहिर एक उद्यान में रुहर गए। उस समय उन पुरा में विश्वम्भोष नामका वेदवारण्य ब्राह्मण मठ कर रहा था। उस वक्त में वह मुनि भिक्षा के लिये गया। उस साधु को देखने ही याज्ञिक ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि जो वेदवारण्य, याज्ञिक और श्रुति शास्त्र का जानने वाले ब्राह्मण है उनकी को वहा से भिक्षा मिल सकती है। वह महामुनि इस प्रकार का उत्तर पाकर न क्रुद्ध हो हुआ और न प्रसन्न हो। उस ने कहा कि तुम वेद, श्रुति, धर्म और परमात्म तत्व को समझने हो नहीं हो। यदि जानते होतो बताओ। वह याज्ञिक ब्राह्मण मुनि के प्रश्नका उत्तर देने में असमर्थ था। उसने हाथ जोड़ कर कहा महामुनि! वेद, श्रुति धर्म और परमात्म तत्व को मुझे बताओ। परमात्म तत्व को किस

प्रकार पाया जा सकता है। यह बताकर मेरा समय दूर करो।  
परमात्मतत्त्व का गणन करते हुए महाभुनि ने कहा —

नवि मुनिदृष्टेण समणो, न श्रौतारेण बम्भणो ।  
न मुणो रण्णशसेण, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥  
समयाण समणा होइ, बम्भचेरेण बम्भणो ।  
नाणेण च मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥  
कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ स्वप्तिमो ।  
पईसो कम्मुणा होइ, मुणो हयई कम्मुणा ॥३३॥

अर्थात् —

कोई मनुष्य पुनः सर मुद्धाने से भ्रमण नहीं बन सकता।  
श्रौतार के वापमाय से ब्रामण्य नहीं बन सकता। बदल में वास  
करने से मुनि नहीं बन सकता, और न ही कुसचीर धारण से तारसी  
ही बन सकता है।

ममता से भ्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्रामण्य, ज्ञान से मुनि और  
तपस्या करने से ही मुनि बना जा सकता है। ब्रामण्य का काम  
करने से मनुष्य ब्रामर्ण्य बन जाता है। क्षत्रिय का काम करने से  
क्षत्रिय, वैश्य का काम करने से वैश्य और शूद्र का काम करने से ही  
शूद्र बनता है।

१४ 'महाभुनि ने कहा कि इस प्रकार 'उत्तम गुणों से युक्त जो  
वासुध में दिवाचम हैं वे ही परमात्म तत्त्व को समझते हैं।'

इसी प्रकार की कथा उत्तराण्ययन सूत्र के ३२वें अध्यायन में  
भी आती है। यह कथा हरिवेशी भुनित की है। हरिवेशी भुनित का  
अन्त एक चाण्डाल कुल में हुआ था। तपस्या के प्रभाव से, वे एक

प्रसिद्ध महर्षि बने ।—वे भी महामुनि की तरह जब भिक्षा के लिए यह मण्डप में गए तो पाण्डित्यों ने उनका विस्कार किया और भिक्षा देने से इन्कार कर दिया । पाण्डित्यों की दृष्टि में वे भिक्षा के पात्र 'हो न थे । उनकी दृष्टि में यह मण्डप के भिक्षा पात्र बनने के लिये 'ब्राह्मण कुल में जन्म लेना परमावश्यक था । जब हरिश्चरी मुनि ने भिक्षापात्र का वास्तविक स्वरूप बताया तो वह उन्हें कटु लगा ॥ और शक्ति में मत्त वे महामुनि को मारने लगे । तत्काल भिक्षा ने मुनि की रक्षा की और मारने वालों को उनिस दंड दिया । इस प्रकार मुनि के तपस्वी का चमत्कार देखकर सब लोग इरान रह गए और कहा —

सकृदसु वीसई तपोविससा, न वीसई जाश्विसेसेगुकोई ।  
सोबागपुत्र हरिण साहु, जस्सेरिसा इहि महाणभागा ॥३७॥

अर्थात् —

'तप की विशेषता साक्षात् दिखाई देती है और जाति की विशेषता कहीं दिखाई नहीं देती । और चाण्डाल का पुत्र होकर भी हरिश्चरी मुनि तपश्चर्या के प्रभाव से इतनी बड़ी श्रद्धा को प्राप्त हुआ है ।

इस प्रकार जैन शस्त्रों में वही भी वयः व्यवस्था का प्रकरण आता है । वही वयः व्यवस्था कम से हो मानी गई है । ब्रह्म को कोई महत्व नहीं दिया जाता । निस्तन्देह उत्तम कुल में उत्पन्न होना आत्र की तरह अर्द्धी दृष्टि से देखा जाता था किन्तु समाज में आदर पाने के लिए 'उत्तम' कुल में जन्म के साथ ही 'उत्तम' गुणों का होना भी जैन समाज में परमावश्यक था । व्यवस्था की मर्यादा को जैन धर्म के अन्तर्गत ही धारण



स्वामी ने बोधा था और उनके प्रवचन को अतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तक-सारे सचकर आवांछन रूप से मानते और प्रचार करते रहे हैं। इसी सत्य का पुष्टि "जैन विद्या नामक पत्र में भगवान् महावीर स्वामी ४ जीवन पर लिखे लेख में जैन विद्वान् मुनि भी कवि अमर चंद जी "अमर" ने भी की है।

आप लिखने हैं —

"तत्कालीन शुद्ध बातियों को भी भगवान् के द्वारा बड़ा सहारा प्राप्त हुआ। भगवान् जहाँ भी गए वहाँ सर्व प्रथम एक ही उद्देश ले गए कि मनुष्य जाति एक है उसमें जातिपात की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं। ऊँच नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म मूलक थे, जाति मूलक नहीं। भगवान् आज के उपदेशकों व समान मात्र उपदेश देकर ही रह गए हो यह बात नहीं। हरिकेशी जैसे चाण्डालों को अपने भिक्षु सभ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर उन्होंने जो कुछ कहा वहाँ करके भी दिया दिया। आगम साहित्य में एक उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जहाँ भगवान् किसी राजा, महाराजा अथवा गुरुणा क्षत्रिय के महलों में विराजे हो। हाँ पालासपुर में शम्भाल कुम्हार के बड़ा, बिजुबना उनकी पतिव्रता कथुता का यह उल्लेखल आदेश है जो कोटि कोटि वर्षों तक अजर अमर रह कर संसार को समभाव का पाठ पढ़ाता रहेगा।"

इस प्रकार राष्ट्रीय ऐतिहासिक तथा अन्य प्रमाणों से पाठकों को यह भक्ताभाँति पता चल गया होगा कि अनादिकाल से जैन धर्म में वक्ष्यवस्था की मर्यादा कर्म मूलक ही रही है। सम्मान मूलक नहीं। आजकल कार्यक्रम में जो धर्म मूलक बनी हुई है, यह

इतर धर्माः का. इस पर प्रभाव है। शैव-मत के प्रतिपक्ष में  
 अपने मुख्य सिद्धान्तों को कमाने लगे।

॥ बौद्धों में वर्ण व्यवस्था ॥

[illegible]

में तनवार लेकर क्षत्रिय वर्णों की, उस से चलने का सदेत करने हुए वीरवर्ण की और घरणों से शुरू की उत्पत्ति की। अश्वमेध देव के पुत्र सम्राट् भरत ने शास्त्र पढ़ाने हुए मुख से ब्राह्मणों को पैदा किया।

इस पर अतिरिक्त कल्पसूत्र में भी महावीर स्वामी का जीवन चरित्र दिया गया है उससे भी जैन धर्म में क्षत्रिय की उल्लेखता सिद्ध होती है। भगवान् महावीर स्वामी पहिले देवानन्दा ब्राह्मणों के गभ में आए। तब देवताओं ने सोचा कि सारे तीर्थंकर क्षत्रिय के उत्तम कुल में जन्म लेते आए हैं अतः यह अशुभ नहीं हुआ कि भगवान् महावीर स्वामी को ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना पड़ेगा। देवताओं ने हरि नैगमेशी देवता को गभ परिवर्तन का कार्य सौंपा। अन्त में हरि नैगमेशी देवता ने देवानन्दा ब्राह्मणों से उस गभ का अपहरण किया और प्रियला क्षत्रियों का कोस में उस गभ को स्थापना की। कुछ विद्वानों ने इस गर्भ परिवर्तन को असंभव माना है और कुछ ने उस से बौद्ध की प्रधानता मान कर भगवान् महावीर को ब्राह्मण बताया है किन्तु यहाँ हमें इन बातों से कोई मतलब नहीं। यहाँ केवल इस घटना का उल्लेख करने का यही अभिप्राय है कि जैन धर्म में भी बौद्ध धर्म की तरह क्षत्रिय जाति को ऊँचा माना गया है। जैन धर्म क्योंकि बौद्ध धर्म से प्राचीन है अतः संभव है कि बण्ड्यवस्था की प्रथा महादा को बौद्धों ने जैन धर्म से अपनाया हो।

अतः, बौद्ध जातकों में वज्र वज्र ऐसे कई प्रधानक मिलते हैं जिन से बौद्ध धर्म का कमगत बण्ड्यवस्था को मानना सिद्ध होता है। एक कथा में एक क्षत्रिय रावकुमार, किसी मुन्दरी के प्रेम में वस कर कुम्हार और रथोद्देश्य आदि के काम का भी करने लगता है। इस

प्रकार एक राजकुमार अपनी बहिन के लिये राज त्याग कर वैश्य बन जाता है ।

पाश्चात्य विद्वान् राइन डेविडस अपनी 'बौद्ध भारत' Buddhist India नामक पुस्तक में लिखते हैं -

“प्रायः सभी समाजिक मंदिर का धेड़िवा में स्त्री पुरुषों के पारस्परिक विवाहों के अनेक उदाहरण पुरोहितों के सम्मुखों में भी पाए जाने हैं । जबल वही नहीं कि तु उच्च वर्गों के पुरुषों का नीच वर्ग की स्त्रियों से विवाह और नीच वर्ग के पुरुषों का उच्च वर्ग की स्त्रियों से विवाह इस के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं ।”

बहुत से विद्वानों का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मसूत्र के प्रकाश के विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने जो आचार्य उठाई थी उन्हीं के विरोध में ही बौद्ध धर्म विश्व में व्यापक रूप से फैला । महात्मा बुद्ध के जन्म के पूर्व काल में ब्रह्मसूत्र का व्यवस्था बहुत भयानक रूप में फैल चुके थे । उस समय भारतीय समाज में ब्राह्मण ही सर्वोच्च थे । उन्होंने ब्रह्मसूत्र का प्रचार करके समाज में अनुचित आचरण उठाया, और अपना स्वयं भिक्षु बना । उन्होंने ब्रह्मसूत्र के व्यवस्था की स्थापना करके चारों वर्गों के लिये भूयस्त्वम् ब्रह्मसूत्र के व्यवस्था की स्थापना करने के लिये अनुचित व्यवस्था की और दूसरी शक्ति के लिये अनुचित कठोरता की व्यवस्था दी । बुद्ध धर्म को ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध आदि अनेक जीवन की सुविधाओं ने धर्मित किया । ब्राह्मण वर्ग के लोग उस समय अपने उस आचरण से प्रति होने लग गए थे और मानवता को भूल गए थे । ऐसे युग में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ । महात्मा बुद्ध ने जो अधिष्ठान, अध्याचार और व्यवस्था की पूरा शक्ति से विरोध किया और लोगों को ब्रह्मसूत्र के विरुद्ध किया । इसी मूल्य का पुत्र

तए मुयोग्य वैदिक विद्वान् प० गंगाप्रसाद जी एम ए अपनी 'धर्म का  
आदि भौत' नामक पुस्तक के ३६ पृष्ठ पर लिखते हैं -

"बुद्ध के प्राटुभाव के कुछ पूर्व वैदिकधर्म का इतिहास में घोर  
अपकार का समय था। वेद-आर उपनिषद्-का पवित्र और प्रशस्त  
धर्म अवनत होकर निरर्थक कृत्य और हिंसापूर्ण 'यज्ञादि' का स्वरूप  
ग्रहण कर चुका था। वैदिक यज्ञ-व्यवस्था का आरम्भ में गुणकमानुसार  
भी बिगड़ कर बराबर परंपरागत जातिभेद में परिवर्तित हो गई थी। इस  
का यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मण जातियों ने केवल 'जन्म से' अपनेको  
बड़ा मान कर वेदाध्ययन तथा उन सद्गुणों को त्याग दिया जिनके  
कारण उनके पूर्वजों का समुचित प्रतिष्ठा की जाती थी। यह सदाचारिक  
और धार्मिक अथाः यत्न केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न रह सका।  
सामान्य लोग भी धार्मिक-ज्ञान आन्तरिक पवित्रता, मधुरशीलता  
आदि बातें छोड़ कर तपस्वाकावेबल बाहरी आङ्गभर दिल्लालने को  
रखते थे। साधारण लोग भी वेसे सीधे, सच्चे, पवित्र और सद्गुण  
सम्पन्न न रहे जैसा कि वैदिक काल में था। वे लकीर के लकीर और  
विलास मिथ्या के खेलें बन गए। प्राचीन आर्यों के सात्विक भाजन  
का स्थान आमिषाहार ने छीन लिया। उस शास्त्रोक्त विद्व करने के  
अभिप्राय से यज्ञ में पशुओं का बच किया जाता था और उनके मान  
से आहुति दी जाती थी।

बुद्ध के प्राटुभाव के समय वैदिकधर्म का जो कहिये कि आर्यों  
की समाजिक-दिवि इस प्रकार की हो गई थी। बुद्धदेव के हृदय पर  
पशुबलि दान और जातिभेद इन दो बुराईयों का बड़ा प्रभाव पड़ा।  
उन का कोमल और प्रेम-पूर्ण हृदय धर्म का नाम पर इतने निरपराध  
पशुओं के रक्त प्रवाह को न रुझ सका। उनका पवित्र आत्मा इस

निष्कृष्ट और अवायव्य आतिथेय के विरुद्ध सम्राट करने को उद्यत हो गया। और इसमें उन्होंने मनुष्यमात्र के लिये सचा प्रेम और उनके आधार के लिये विशेष उत्साह दिखाया। वस्तुतः यह बुराई इतनी अधिक हो गई थी कि बुद्ध भगवान् ने पूर्ववर्ती अनेक प्रयत्नकारों न भी उसे बुरा कहा था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सब बातोंमें इस आतिथेय की व्यापकता हो गई थी। यहाँ तक कि देश के कानून पर भी उस का प्रभाव पड़ चुका था। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये पृथक् पृथक् कानून बन गए थे। ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित दया और शूद्रों के साथ अनुचित कठोरता का व्यवहार किया जाता था। ये बातें बहुत दिनों तक नहीं ठहरा सकती थीं। शूद्र कितने ही धार्मिक और गुणवान् क्यों न हो परन्तु न तो उन्हें धार्मिक शिक्षा देने का हा कहीं प्रयत्न था और न उनकी सम्राट में ही कुछ प्रतिष्ठा थी। वे लोग इन वेदियों को तोड़ बँकने के अवसर की तक में लैटे थे। वेदों निम्न प्रथा के पजे में बँसे हुए थे, जिस में उन्हें उस मोठाहठी के समान से बुरी तरह बहिष्कृत कर रखा था। उनकी लालसा थी कि इस स्थिति में परिवर्तन हो। द्विजत्तवात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी ऐसे अनेक उच्चारण उदार-प्रकृति हुए थे जो उनकी इस लालसा से सहानुमति रखते थे। अतएव 'क्रान्ति' का समय आगया था। और इस विचार के लिये असाधारण दूरदर्शिता की आवश्यकता न थी कि समय आयेगा जब लोग इस हानिकर प्रथा के विरुद्ध बुद्ध मंचा कर अपनी वेदियों को चोड़ डालेंगे। यह अवसर आगया। राजकुलोत्पन्न एक क्षत्रिय ने घोषणा की कि सम्राट में मनुष्य की स्थिति खम्बस नहीं प्रत्युत गुणों से दातो है। असम्भव मनुष्य उसके चारों ओर एकत्रित हो गए। ऐसी दशा में हम सब ही में उस बात का अनुमान कर सकते हैं कि अत्याचार के पार से दबे हुए शूद्र लोग किस उत्साह से उनकी

मे उत्पन्न होने के कारण आज ॥ नीच जाय करने को बाध्य नहीं करत थे । मानव समाज का संगठन साम्यता और छात्रता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था । देशकाल और परिस्थिति के परिवर्तन के कारण बौद्धिक, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में भेदक विचार अथवा उत्पन्न हात गए किन्तु तनों के अस्तित्व में एक ही संस्कृति की झलक पूर्ववत् ही विद्यमान है । शुद्ध भारतीय जीवन रेखा अति प्राचीनकाल से तीनों धर्मों का आधार रही है । अनेक युगों से भारत के जीवन के प्रवाह को प्रवर्तित करने वाला सरिता एक ही है । किन्तु प्रवाह भिन्न है । एक ही दृष्ट की अनेक शाखाएँ हैं और एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं ।



# जैन धर्म में स्त्री का स्थान

अनेक सदियों से भारत की प्रायः सभी जातियों और धर्मों में स्त्री का स्थान बहुत गिर चुका है। उसको मनुष्य से नीची भेणी का समझा जाने लगा है और अनेक सामाजिक सुविचारों को पुरुष का प्रातः है स्त्री उन से वंचित है। पुरानी सदियों के रङ्ग में रङ्गे हुए और अपने को एक मात्र प्राचीन भारतीय सभ्यता का खजाना मानने वाले बहुत से लोग आज भी अब कि सभ्यता और भागों के लोग बहुत आगे न चले हैं स्त्री जाति को पुरुषों की काम वाचना की सृति का नापन या सन्तानोत्पत्ति की मशीन मात्र समझते हैं। उसको अचला कहा जाता है और अनेक दुर्गुण उसके सिर पर लादे जाते हैं। बहुत से लोग तो प्राकृतिक रूप में जन्म से ही उसमें माने जाते हैं। मनु महाराज का लिखते हैं कि -

स्वभाव एव नारीणा नाराणामिह दूषणम् ।  
अतोऽथात्र प्रमादयति प्रमदासु विपश्चित ॥  
अविद्यासमल लोके विद्यासमपि वा पुन ।  
प्रमदा ह्युत्पद्य नेतु कामक्रोधवशानुगम् ॥

अर्थात् - इस लोक में पुरुषों को विकार मस्त कर देना यह तो नारियों का स्वभाव ही है इसी लिये बुद्धिमान् पुरुष नारियों की ओरसे कभी अवलोकन नहीं करते। सभ्यतामें कोई मूल हो चाहे विद्वान्, काम के बशीभूत हुए पुरुष को स्त्रियों अनायास कुमार्ग में लेजा सकती



अर्थात्—सब दानों से उत्तम दान भार्यादान करने का है । इस प्रकार स्त्री का कन्ये वैसे की तरह दान की गामभी भी बनाया गया ।

पन के लाभो घरानों में तो कन्या की विरी आबकल भी प्रचलित है ।

पुत्र के काम पर लोग ब्याह देने चाहते हैं और कन्या के काम पर घर की नानो मर जाती है । जिन रिश्कों के सब कन्यावें उत्पन्न होती हैं लोग उनसे दशान करना चाप समझते हैं और पनि उनको छोड़कर दूसरे विवाह कर लेते हैं । जिस स्त्री के कोई सम्मान न होती हो तो दोष चाहे पुत्र का 'ही हो किन्तु वह भी स्त्री के गल्ले मन् दिया जाता है । नव विवाहिता बटू के आने के बाद घर में यदि कोई दुपटना हो जाए तो वह भी उसी बैचारी के कमों का परिणाम समझा जाता है । अधिक कदा तक लिखा चाप दुनिया भरके दोष स्त्री पर चाप जाते हैं । महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है —

अतक पवनो मृत्युः पातालं बह्वानुस्रम् ।

छुरधारा त्रिषु सर्पो बहिरिस्त्येकस त्रिषु ॥१८२६॥

अर्थात् —यम वायु, मृत्यु पाताल बहवानुस्र, छुरे की धार, त्रिषु, सर्प और अग्नि के साथ नारी की तुलना की जा सकती है ।

चिरकाल से चले आते स्त्री जाति के इस अपमान के प्रचार में परम भक्त महात्मा कबीर दास भी रह गए । खरा उन की विचार धारा पर ध्यान डालिये —

नारी की भाई परत अंधा होत मुजग

कबीर तिन की कौन गाँत, नित नारि के संग ॥

कामिनी सुन्दर मर्पिणी, जो छेडे तिहि राय ।

जे गुरु चरन रचिया, तिनके निष्ठ न जाय ॥

पर नारी ऐनी छुरी मति कोई लावे अङ्ग ।

रागण के नस मिर गण, पर नारी के मङ्ग ॥

नारि निरखि न देखिये, निरखि न कीजे दौर ।

देखे हीते निष चढ़े, मन आवै कटु और ॥

नारि नाहि जम अहे, तू मन राखे जाय ।

मजारी ग्यों बालिकै, काटि कलेजा राय ।

नैनो काजर पाइके गाढे पावे बेस,

हाथो मद्दी लाईके, धारिनि ग्याय दस ॥

इस प्रकार समाज को अवनति की ओर लौटाने वाले अथ विभाषी और सकुचितशक्ति के कृपमयों की कृपा से भारत में स्त्री को अनेक कुसित अपमानों का भाजन बनना पड़ा है। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय नारी अपनी जाति को पाप कर्मों का फल या ऐश्वर्य अभिरूप समझे तो स्वाभाविक ही है। परन्तु अब विचारणीय बात यह है कि क्या अनादिकाल से वास्तव में स्त्री जाति का इसी दृष्टि से देखा जाता रहा है? इसका उत्तर यही मिलता है—कदापि नहीं। इस में सन्देह नहीं कि विरकाल से स्त्री जाति को अनेक वरणाश्रों का सम्मान करना पड़ा है और उसमें बड़े २ राजसी अपमान सहे हैं किन्तु वास्तव में जब हम भारतीय संस्कृति की गहराई तक पहुँचते हैं तो स्त्री जाति का स्थान बहुत उँचा पाते हैं। पुरुष को सब कियाए स्त्री के बिना अपूर्य होती है। कियायें ही क्यों वह स्वयं उसमें बिना अपूर्य है। पत्नी को 'अर्धाङ्गिनी' अर्थात् पुरुष का आधा अङ्ग माना जाता है। अतः पुरुष स्त्री के बिना पूर्णाङ्ग नहीं रहा जा सकता विष्णु पुराण के चौथे अध्याय में लिखा है —

कि जब २ स्त्री जाति को उसका शक्तियों के विकास के लिये उचित मौका दिया गया तो वह किमी क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रही। जिन कार्यों को पुरुषों ने किया उनको स्त्रियाँ भी कर लेती थी। विद्या के क्षेत्र में ही देखिये। जिस प्रकार वेदों में प्राचीनतम ऋग्वेद के मंत्रों के बनाने वाले या द्रष्टा (पुरुष) ऋषि थे इसी प्रकार सामराज्य, धार्मिक, विधायक इन्द्राणी और आपाली आदि स्त्रियाँ भी वेदमर्मों की ऋषि थीं। गांधी और सरस्वती की विद्वत्ता से सब परिचित हैं ही। आज कल भी अमेरिका में भारत की राजदूत श्री विजय लक्ष्मी पण्डित और स्वर्गीय उत्तर प्रदेश की गवर्नर भीमती सरोजिनी नायडू की विद्वत्ता से कौनसा भारतीय परिचित नहीं है। भारत ही क्यों भारत की इन भद्रिय माताओं की विद्वत्ता विश्वभर में प्रख्यात है। इसी प्रकार विदेशों में भी मैडल क्यूरी आदि अनेक महिलाओं ने विज्ञान क्षेत्र में बड़े २ अविष्कार करके कमाल कर दिया है। इसी प्रकार वीरता के क्षेत्र में भी स्त्री पुरुष से पीछे नहीं रही। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी बड़े २ समारामों में वारता दिगताती आई हैं। मुद्गल पत्नी इन्द्रसेना ने बड़ी चतुराई से समाराम में रथ हाका था और बड़ी वीरता से उसने इन्द्र के शत्रुओं का नाश किया था। अस्त्र संचालन कला में वह बड़ा प्रवीण मानी जाती थी। जब शत्रु गऊँ चुराकर जाने लगे इस वीर नारी ने उन से ऐसा मुद्ग किया कि वे गीए वहाँ छाड़कर अपनी जान लेकर भागे।

पुराने समय को छोड़कर भारत पर मुगल और अंगरेजों का शासन के कुछ उदाहरण लीजिये। रानी दुर्गावती ने आठपगवाँ को कैसे समाराम भूमि में पछाड़ा था। अमरसिंह राठीर की वीरपत्नी किस प्रकार लड़ते लड़ते अपने पति की लाश मुगल कोट से उठा लाई थी। कोहापुर की रानी तागबाई इच्छलकारन की वीरपत्नी। अतुबाई

इन्दौर को ग्रहलयावाई तथा भ्रांसी की वारामना रानी लक्ष्मीबाई ने पड़ोस चतुराई से राज्य शासन भी चलाया और युद्ध भी किये। ताराबाई की कूटनीति व काख और कुत्ते को घुरी तरह मार खानी पड़ा। अनुबाई ने अनक बार शत्रुओं को हराया। लक्ष्मीबाई ने अंगरेजों के नाक में दम कर दिया था।

पुरुष की तरह राज्यतत्त्वा भा स्त्रियों के हाथ में रह चुकी है मार उस वहाँ प्रवीणता से वे चलाती रही हैं। दक्षिण भारत में कुछ शिलालम्ब ऐसे मिले हैं जिन से स्त्रियों का राज्यशासन में भाग लेना सिद्ध होता है। सातवीं शताब्दी व मध्य भाग में चालुक्य वंश व राजा आदित्य की महिषी विजयमदारिका वन्दे के दक्षिण में राज्य करती थी। १०५३ ईस्वी में चालुक्य राजा सोमेश्वर की महारानी मैलादेवी बनवासी प्रांत पर राज्य करती थी। जयसिंह तृतीय की महिन अकादेवी १०९२ ईस्वी में विजयपुर जिले पर राज्य करती थी। १०७३ ई० में विजयादित्य की महिन कुजुमदेवी कनाटक व धारवाड़ जिले पर शासन करती थी। इस से यह स्पष्ट है कि शासन कार्य में भी स्त्री पुरुष की नाति ही बढ़ी पड़ रही है और बड़ी गंभीरता से राज्य व सब कार्यों का संचालन करती रही है।

प्रकार शिवा, विमान, पौरता और राज्यशासन आदि सभा सामाजिक क्षेत्रों में स्त्री पुरुष व समान ही प्रख्याति प्राप्त करती आई है। फिर कोई ऐसा कारण दृष्टिगोचर नहीं होता कि स्त्रियों का पुरुषों के समान सम्मान न किया जाय।

आचरण, सहनशीलता, त्याग, उपस्था, प्रेम, कष्ट, उपकार, वृत्तवृत्ता, श्रद्धा, सेवा और भद्रा इन गुणों में तो पुरुष भी स्त्री की समानता नहीं कर सकता। सीता, लविका, पावनी, द्रौपदी और दम

यती आदि अनेक हिंदू महिलाओं के चरित्र इस सत्य के उदाहरण हैं। रावण जब सीता को बलात् उठा कर ले गया तो लक्ष्मण वाकर उसने सीता का बहुत सान्त्व दिये प्राथना की और बहुत राधा भी किन्तु उस के कहन का बिल्कुल अवहेलना करते हुए सीता ने वा कुछ कहा वह भारतीय नारी के गौरव को सदा बनाता रहेगा। सीता ने कहा —

चर्येणाऽपि सख्येन न स्पृशेय निशाचरम् ।

रावणं किं पुनरहं कामयेय विगर्हितम् ॥

अर्थात् — इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही मैं तो इसे अपने पाए पैर से भी नहीं छू सकती ।

इसी प्रकार प्रभा के अनुराग के लिये राम ने अपनी प्राण बलिभा सीता को वन में त्यागने का निश्चय कर लिया। सीता उस समय गभवती थी। जंगल में छाड़ने का भार लक्ष्मण पर छोड़ा गया और सीता को वह रहस्य पर पर नहीं बताया गया। जंगल में छोड़ते हुए लक्ष्मण ने जब सीता का यह बताया कि राम ने उसका त्याग कर दिया है तो सीता को यह ब्रह्मपात के समान लगा। वनता के समस्त सीता की अग्नि परीक्षा हो चुकी थी और वह सिद्ध हो चुका था कि उस का चरित्र निर्मल था फिर उसपर सदेह क्यों किया जाय ? फिर गभावस्था का समय। कितना कठिन है ऐसी घोर विपत्ति में धीरज रखना ! परन्तु सीता जानती थी कि उस के पति मयाग पुरुषार्थम हैं। वे उसका पुरा कभी नहीं चाह सकते। उसने लक्ष्मण से कहा —

कन्याण सुद्वेयवा तवायं न कामचारो भव्य शक्नीय ।

मगैव ज मात्तरपातकाना विपाकविस्फुजधुर प्रसेय ॥

अर्थात् — राम कल्याण बुद्धि गृहरे के अपने प्रिय पात्रों के कल्याण की कामना करने वाले हैं। वह मेरे लिये किसी अकल्याण का वस्तु की क्या कभी कल्पना भी कर सकने हैं। यह सब मेरे ही जमाने का पारो का फल है।

यह हैं उन्नावरण और सहनशीलता की पराकाष्ठा का आदर्श उदाहरण का भारत की नारियाँ ने तुम्हारे नामने रखे हैं।

कला की शक्ति और भौतिक विज्ञान में तात्कालिक देशों की महिम्ना भी बड़ी उन्नति कर गई है किन्तु भारतीय नारी में काव्यात्मक विशेषता है वह है ब्रह्म विज्ञान का क्षेत्र में उदगम की। यह तरस्यापूर्ण आध्यात्मिक विशेषता का वह देश की स्त्रियों में कम ही मिलती है। पात्रवत्कम यदि तुम्हारे जीवन से विरक्त हो गए। जब वह अरण्य में जाने लगे तो उन्होंने अपना पत्नी मैत्री से जाने का आकाश माँगी। मैत्री का ऐश्वर्य धन दीप्त हो देने हुए वास्तविक ने कहा कि तुम मनार में रह कर सपना और शान्तिमय जीवन पर्वत कर। इसके उत्तर में मैत्री ने कहा—

येनाह नामृता रथा तेनाह कि कुशाम् ॥

( बुद्धिगम्यक )

अर्थात् — क्या मैं इस धन गैरज्ञान में अमर हो जाऊँगी जिससे मुझे अमरता प्राप्त न हो उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी ? भोगों में कभी शान्ति नहीं मिल सकती। भारत की स्त्री का इस प्रकार का आध्यात्मिक और तत्त्वपूर्ण उदाहरण स्त्री जाति के महान् गौरव की सदा बलाने रहेगा।

इस प्रकार जब हम प्राचीन भारतीय महिला का विश्लेषण करते हैं और उन की महारत तक पाँचते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं

है कि भारत की सभ्यता में स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा है। पुरुष और स्त्री दोनों का सम्बन्ध अन्यायान्वाधित है। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। पुरुष जनक है ता स्त्री जननी है। भारतीय सभ्यता में जननी का स्थान बहुत ऊँचा है —

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसा ॥

अर्थात् — जनन और जन्मभूमि ये दोनों स्वर्ग से भी बढ़ कर हैं। जहाँ और बहुत से देश अपने देश को पितृभूमि कहते हैं वही अपने देश को मातृभूमि के नाम से पुकारते हैं। यह मानव के प्रति असीम भक्ति का ही परिणाम है कि भारतीय दृष्टि नामों में भी प्रथम स्थान स्त्री को दिया जाता है। जैसे— माता राम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, श्री पुरुष और माता पिता आदि। इन सब नामों में स्त्री का स्थान पहिले है। इस का कारण यही है कि स्त्री में मानव का माधुर्य और महत्व है। पुरुष उस के बिना कुछ नहीं कर सकता और वह पुरुष को सम्भाल दिखाने वाली है और उस के भविष्य का निमाण करने वाली है। जिन राष्ट्र की माताएँ सुवर्ण्य हों वही महापुरुष जन्म लेते हैं। भगवान् राम, कृष्ण महावीर, बुद्ध और गोपी आदि अनेक महारामाओं और महापुरुषों की माताओं ने ही व म दिया अतएव मनु महाराज व हम महावाक्य का कभी नहीं भूलना चाहिये —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सत्रास्तत्राऽकला क्रिया ॥

मनु अ० ३ श्लोक ५६

अर्थात् — जिन किसी भी कुल में स्त्रियों का पूजन या आदर सम्कार भली प्रकार होता है उस कुल पर देवता तक प्रसन्न रहते हैं।

और बड़ा विश्व का अरपान दाता है बड़ा सभी कम निष्फल होते हैं ।  
आम फिर मनु जी निम्नत है -

शोचति चामयो यत्र त्रिनरगात्याशु तत्कुलम् ।  
न शोचति तु यत्रैना यद्यते तद्धि मर्जदा ॥

मनु अ० २, श्लोक ५८

अर्थात् - जिस किसी कुल का बहुत-से दिव्य किसी प्रकार का क्रोध पाती है वह कुल शोच ही नष्ट हो जाता है । किन्तु वहाँ पर रहें किना तरह का कलश नहीं दाता वह कुल सब प्रकार सुख सम्पन्न रहा करता है ।

## ॥ जैन धर्म में ॥

ज्या व लिये आदम स्थान देन वाले धर्मिक धर्म की तरह जैन धर्म में भी श्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है । किना भी सत्कृति की उत्पत्ति की कमीदी श्री व प्रति तत्कालीन ममात्र का व्यवहार है । जैन सत्कृति में अनादिकाल से श्री जाति का बड़े आदर साकार और भद्रा की दृष्टि से देला जाता है । जैनधर्म व अवतारों को तीर्थंकर नाम से पुकारा जाता है । तीर्थंकर का अर्थ है तापोंकी समाप्ति करने वाले । तीर्थ चार हैं भावक, भाविका, साधु और साध्वी । भावक के साथ भाविका को और साधु व साथ साध्वी को समान रूप से समाश्रय का आज्ञा दा है । सम्मदगर्भ, सम्मग्नान, और सम्मग्न चारित्र ये तीन जैन धर्म के रत्न माने जाने हैं । इन तीनों का उचित रीति से जीवन में नतारने के लिये शिवा नितात आवश्यक है जिस का विधान जैन धर्म में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान है । जैनधर्म ग्रन्थों में लिखा है आदि तीर्थंकर भगवान् अष्टमदेव न अम्ना पुत्री दाक्षी के



लिये लेलन कला का आविष्कार किया। उन्हीं की पुत्री का नाम पर  
 निरि का नाम ब्राह्मी पड़ा। आज कल का नागरी लिपि प्रचलित है  
 इस का प्राचीन नाम ब्राह्मी है। इस से यह स्पष्ट है कि त्रेनिवा कला  
 आदि लपकर भगवान् श्वभदेव भी पुण्य का नीति स्त्री का मुग्धित  
 बनाना परमावश्यक समझते थे। अतः त्रेन समाज में स्त्री शिक्षा का  
 प्रकार और अधिकार अनाधिकाल से बना चला है। न तत्काल नाम  
 का त्रेन भाविका की विद्वता से कान त्रेन परिचित नहीं। वह शास्त्राय  
 के नियम बहुत प्रसन्न था। उनसे हा बादाबाय में मीदगहवायन में  
 शास्त्राय किया था। मुख्यतः और गुणमाला से दोनों वैश्य कन्या  
 वैश्य शास्त्र की वही शिक्षा थी। इस से यह भी सिद्ध होता है कि  
 स्त्री शिक्षा का लिये बगकराल में बुरान ग्राम निरस्तक मिन मन्त्री  
 थी और उत्तम कुल की कन्या वैश्य व्यवसाय का मन नतापूर्वक  
 अपनाती थी। अत्राहमणि काव्य में लिखा है कि जोधर का माता  
 मयूवन्त नामक बाबुयान से उड़ना सीखा करती थी। इस से स्पष्ट है  
 कि कठिन से कठिन शारीरिक काम करने में भी स्त्रियाँ लकोच नहीं  
 करती थीं। और पुरुष के समान ही मशीनरी का चालन और उन  
 का काम प्राप्त करना अपने लिये आवश्यक समझती थीं। इस से त्रेन  
 सम्यता के वचन काल में बाबुयान जैसे किसी पक्ष के अस्तित्व का पता  
 चलता है।

## ❀ विवाह ❀

कन्याएँ जब पन्द्रह साल की हो चुकीं युवावस्था का प्राप्त हो जाती  
 थीं तभी उन का विवाह सम्कार किया जाता था। बाल विवाह को  
 बहुत पुराना माना जाता था। यदि पिता किसी कारण से छोटी उमर में  
 कन्या की सगाई कर भी देता था तो कन्या का युवावस्था तक पहुँचने

तक उसका विवाह राक रखा जाता था। कमल्लता को इसी कारण अपने निर्दिष्ट पति से प्यार करने की आज्ञा दी गई थी। जैसे तो कन्या का पिता भी मुदाग्य घर दूँट देता था किन्तु स्वयंवर की प्रथा उत्तम मानी जाती थी। कदा अपने गुण, कम आरम्भभाव व अनुकूल योग्य घर चुन सकती थी। वह घर किसी भी जाति का हो इस की चिन्ता नहीं की जाती थी —

कन्या वृणीते रुचित स्वयंवर गता वरम् ।

कुलीनमकुलीन या क्रमा नास्ति स्वयंवरे ॥

( इति० त्रिनशसङ्गत )

अर्थात् — स्वयंवर में गढ़ हुए कन्या अपनी रुचि के अनुकूल मुदाग्य घर का चुन सकती हैं। वह घर उच्चकुल का हो या नीचकुल का इस का विचार नहीं किया जाता।

इस प्रकार वैजयन्त में विवाह का क्षेत्र इतना विशाल था कि कुलीनता, अकुलीनता उच्च या नीच वर या भिन्न धर्म का कोई प्रतिषेध न था। यही कारण है कि राजा अशोक ने प्राप्ति से विवाह कर लिया था और वेश्य पुत्र सीरधर कुमार ने क्षत्रिय की कन्या मधदत्ता का स्वयंवर में विवाह था। श्रेष्ठ पुत्र प्रीतकर ने अपना विवाह राजा जयसेन की पुत्री के साथ किया था। नन्द राजा मगधनदी की राजकुमारों में एक शत्रुा रानी भी थी। इसी तरह धर्म की भिन्नता भी विवाह में बाधक नहीं बन सकती थी। वसुमित्र भेरी जैन थे किन्तु उन की पत्नी धनश्री अजैन थी। पुण्डवधन जैन था किन्तु उसकी पत्नी विशाखा बौद्ध थी। अशोक के पिता ने अपना विवाह एक भील कन्या से किया था। इसी तरह चारु च का विवाह एक वेश्यापुत्री के साथ हुआ था। इस प्रकार प्राचीन जैन समाज में विवाह के नियम

विशेष चरन न था। स्त्रा जाति का बड़ स्वतन्त्रता थी और विवाद का क्षेत्र बहुत विस्तृत था।

## ॥ परदा प्रथा ॥

मनासमानिक दृष्टि से परम्परा हानिकारक हा सिद्ध होता है। जिस वस्तु को जितना अधिक छिपाने की काशिश का काम उतनी ही दबन वालों की उत्पत्ति उस देखन व लिये बढ़ती है। पर्दे के अन्दर छिपा हुआ स्त्री का मुग्धमण्डल दशनेच्छुक के चित्त को बेबैन कर देता है। मनुष्य उस व दशन व लिये पता नहीं क्या २ विकृत विचार अपने मन में लाता है और तरह २ का अभिनय करता है। यदि वहा मुख मण्डल खुला हो तो 'यय की उत्कठा से सभी मुक्त रहते हैं। अब देखना यह है कि पर्दे का कारण वास्तव में है क्या ? कुछ लोग का कहना है कि पर्दे से स्त्री व शीलकी रक्षा होती है। ये लोग स्त्री की छाट के दीपक के साथ तुलना करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार छाटे के दीपक को अंदर रखने ला चूहा का डर बाहर रखना तो कोआ का। ठीक इसी प्रकार का डर स्त्री का भी है, इस लिये उसे लुकाकर ही रखना चाहिये और इस में उसके नाम 'लुगाई' की भी सार्वभूता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होते हैं। पर्दा शील की रक्षा में काद सहायता नहीं कर सकता। शील की रक्षा व लिये ता ज्ञानबल और आत्मबल की आवश्यकता है। जो स्त्री पातिव्रत्य धर्म व महत्त्व को अच्छा तरह समझती है और उसका पालन करती है वह नये बदन भले ही कहां भी बिरे किमी पुरुषही क्या शक्ति है कि उसपर कुदृष्टि डाल सके। यदि स्त्री के विचार ही दूषित हा भले ही आप उसका कितने पर्दों में रक्के आप उसके शील की रक्षा करने में कभी भी सफल नहीं हा

सकेंगे। शील की रत्ना बाध्य बंधन स नहीं हा सकेंगे। किन्तु मानसिक बंधन स हा सकती है। अतएव शील की रत्ना क लिये पर्दे का अवनाना सयथा कया है। इस क अतिरिक्त पर्दे की प्रथा स्त्री के स्वास्थ्य के लिये भी बहुत हानिकारक है। हम देखते हैं कि आज दिन प्रान्तों और जातियों में पर्देकी प्रथा भयानक रूप धारे हुए है उनकी स्त्रियाँ कमजोर, अशिक्षित और अनेक भयानक रोगों से ग्रस्त पाई जाती हैं। वे आदर्श गृहिन्यो बनने क प्राय सभी गुणों से वञ्चित होती हैं। मेरे विचार स पर्दा प्रथा हमारी अपनी चीज नहीं है किन्तु दीन काल क यवन शासन से हमारे में आ. ६। अस्तु-प्राचीन जैनधर्म इस पर्दे की कुप्रथा क राग से मुक्त था। जैन महिलाएँ घर की चार दीवारी की जेल में बन्द नहीं की जाती थीं। वे घर स बाहिर काम का प लिये जाती जाती थीं और समय समय पर विद्वाना से शास्त्राय तक करती थीं। अब वे घर से बाहिर जाती थीं ता साग उन्हें वही प्रतिष्ठा और स मान के साथ देलत थ। साधारण स्त्रियाँ की ता बात ही क्या शनियों स राजदरबारों स खुलमुखले खली जाती थीं। उत्तर पुराण स निम्ना है कि एक बार राजा सिद्धाय राजदरबार स बैठ थ। रानी निशला उन से मिलने क लिय वहां पहुची। सिद्धाय न बड़े सम्मान से उस का अपने पास राजसिंहासन पर बैठाया। अ य सब राजकीय कार्यों की अपेक्षा करके सबप्रथम उन्होंने विशवादेवी क आने का कारण पूछना चाहा। इस स यह स्पष्ट है कि प्राचीन जैन समाज स व जैसी भयानक कुप्रथा न थी। वर्तमान जैन समाज क भी काशी लोग इस पर्दे की प्रथा क राग से मुक्त तरह स प्रस्त हैं। उनका अपने प्राचीन धर्म से शिक्षा लेनी चाहिये और प क बंधन का ताड़ कर स्त्री जाति में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये। शिक्षा क बिना स्त्री जाति में जाग्रति नहीं आ सकती और उस जाग्रति के बिना खून बाला, मृगान्तरी और मुभट्टा जैसी देवियाँ जैन समाज में पैदा न हा सकेंगी। अत जैन गृहस्थ...

का अब जागना चाहिये । सारा संसार आग बढ़ता जा रहा है और आप भी अपनी सत्कृति का पहिचानिये ।

## ॥ धार्मिक जीवन ॥

पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किन्तु स्त्रियाँ एक पतिव्रत धारिणी होती थीं । गृहस्थ आश्रम में गृहस्थ के नारक सम्भालने के लिये २ स्त्रियाँ धार्मिक कार्यों की उपज्ञा नहीं करती थीं । प्रतिदिन प्रतिकर्मण करना और कर्त्ता की सेवा में बैठकर धर्मग्रन्थ भवण करना ये उनके नित्यकृत्या न प्रधान आग ये । वे अपने पति में बड़ी भक्ता और प्रेम रखती थीं । जब वे उन की इच्छा के विपरीत कार्य करते पाता वे अपने अधिकार का भूलती न थीं और उन्हें सुक्तियों द्वारा समझा कर ठीक कर लेती थीं । जम्बूकुमार जब दीक्षा लेने के लिये तैयार हुए तो उन की पत्नियों ने उन का खूब समझाया और पर पर रहने के लिये बाध्य किया । जम्बूकुमार ने उन की समझति का प्रेमपूर्ण मुना और उस का पालन किया । इस से भी पता चलता है कि पति भी अपना पत्नियों के उचित आग्रह की अवहेलना नहीं करते थे । आरक्षिणाज भ विद्या अपने शील की रक्षा भी बड़ साहस से करती थीं । चन्दन बाला की माता धारिणी, और महासती राजीमती इस लक्ष्य के बंधन त उदाहरण हैं ।

चम्पा नगरी ॥ दधिवाहन नाम के राजा राज्य करते थे । उनकी राणी का नाम धारिणी था जो बड़ी ही रूपवती थी । उस पर कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चढ़ाई कर दी । दधिवाहन जंगल में भाग गया । शतानीक के एक सौदा ने राजमहल का लूट लिया और धारिणी का काटू भ कर लिया । वह उस पर आसक्त हो गया । धारिणी ने

बहुत समझाया बुझाया परंतु वह कामाच हो रहा था अतः पलात्कार  
 में अपनी वासना पूर्ण करने के लिये तैयार हो गया। भारिणी ने अपने  
 मतीत्व की रक्षा के लिये तुल्य अपनी धीम धींच कर बाहिर निकाल दी  
 और प्राण दे दिया। इस प्रकार अपने शील की रक्षा के लिये भारिणी  
 ने अपना प्राणों की बलि दे दी और बादा के जीवन का भी इस  
 आरमात्मक के द्वारा घामिर जीवन में बदल डाला।

जैन धर्म के बादसर्व तीर्थंकर नेमिनाथ या नान्य काल से ही  
 विरक्त थे। विवाद की दृष्टि से दाने पर भी उन की मगार मधुरा के  
 राजा उप्रमेन की गुणवती पुत्री राजीमती से कर ली गई। वे वहाँ के  
 अनुराज का राजा न लक। जब वरान उप्रमेन के वहाँ पहुँची ता  
 नेमिनाथ ने वरातिशे के मावन के लिये लाग गण पशुओं का बादा  
 भग देखा। वे अपने विवाद के निमित्त निषेधाथ पशुओं का वध न  
 देख सकते थे। वे वहाँ से भाग गए और गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा  
 ली। जब राजीमती का इस बात का पता चला ता उनसे भी वति का  
 अनुसरण किया और दीक्षा लेली। दूसरे किसी कुमार के साथ विवाद  
 करन के माता बिना के प्रस्ताव का उस ने दुकरा दिया। दीक्षित  
 अभ्या में एकवार जब वह गिरनार पर्वत पर जा रही थी ता वया के  
 कारण उस के बख भीग गए और उई सुखान के लिय वह एक समीप  
 की गुहा में चली गई उस गुहामें एक रथोभि नामका साँतु बैठा था।  
 वह राजीमती के रूप लावण्य का देख कर कामाच्छ हो गया और रति  
 की प्रायना करने लगा। राजीमती आदर्श जैन महासतियों में से थी।  
 वह अपने शीलधर्म का सब भूलने वाली थी। उनसे कहा —

जइ सिं रुवेण वैममणो, ललितण नलरुग्गो ।  
 तहा वितेन उच्छ्राम् जइ सिं सक्कं पुरंदरो ॥

विरह्यु तऽनमो कमी जो त जीविय कारणा ।

य त उन्डास आवेऊँ से, यत मरण मउ ॥ -

अतए० अ० २ स्तोक ४१ ४२

अथात् - हमें योंही यदि तुम का म मायात् कामदेव सीता  
म नल दुबेर या दूद भी शाना भी में तुम्हारी कामना नहीं कर सकते ।  
तुम्हें पता है कि हम कामनामय ब्रह्मन दिये हुए भागों का त्याग कर  
उन्हें निर भागत की इच्छा कर रहे हैं । हम प्रसन्न व पतिन प्राप्त  
ता तुम्हारा मरना ही अच्छा है ।

यह है जैन नारिका व मतीत्व का शोध की महानता और  
धार्मिक जीवन की उत्थता । हम प्रसन्न व नारी के मतात्त्व रहण के  
उदाहरण अथवा कम ही देखने में मिलने हैं । नारिका और रात्रीमती  
इन दोनों महिलाओं के उद्देश्य में यह भी स्पष्ट है कि दोनों ने बस  
अपने शीत जी भी रक्षा नहीं की बल्कि परिश्रम से भ्रष्ट होने हुए यादों  
आप मायु का भी अपने मतीत्व की शक्ति में न मान की आर लगाया ।

जैन शास्त्रों में विरवा विवाह का प्रथा उ उ अथवा मरे, देवता  
में नहीं आता । हम में यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रायः  
कल का तरह प्राचीन जैन समाज में विरवाया का सत्त्वा कम रहा है  
और हम जिन विरवा विवाह की बहिल समझा उन व मानन में आता  
है । या याही उ न विरवाया वाली होगी वे धार्मिक जीवन व्यतीत  
करना नहीं । विरवाया की समस्या कम होने के कुछ प्रमाण तो स्पष्ट ही  
हैं । जिन प्राणि में वान विवाह का प्रथा प्रचलित है या कुत्राद विवाह  
होते हैं वहा विरवाया का मत्वा अथवा करने का उर रहता है । जैन  
समाज भीनामय वहा इन दोनों कुत्राया से मुक्त रहा है । वान विवाह  
ता जैन हम में जिन समझा जाता था । और कुत्राद विवाह का प्रथा

हा पैंग नहीं डाता जब कि विवाह के लिये स्वयंवर की प्रथा सबसे उच्च । माना जाती है । कच्चा और चर दाना का अधिकार था कि वे अपने गुण, धर्म, और स्वभाव का अनुकूल स्वयंवर में अपना जीवनमगी या जीवनसंगिनी चुनें ।

जैन मन्वन्ता कालमें सामाजिक जीवन इतना ऊँचा और आशा था कि त्रिम की प्रशंसा किये बननी हैं । लाग विपरीत कारणों से सदाय में भी मन्वन्ता का उन्नयन नहीं करने थे । गुण दाने वगैरे दान भी हो सकते हैं, भूल पुरुष भी करता है और स्त्री भी । हो जाती हैं कभी सभी सबलता हाते नहीं । ऐसी स्थिति में अपने में होने वाली अनेक भूलों की उपेक्षा करके दूसरे की भूल देखकर जब से घृणा करना यह छाटेम की निशानी है । जैन धर्म ने इन बातों में बड़ी विज्ञानता दिखाई है । यदि कोई स्त्री भूल से या अज्ञानता में मन्वन्ता से विनल जाती थी तो समाज उस से घृणा का व्यवहार नहीं करता था । इस का भी अर्थ स्त्रियाँ की भौतिक चर्च काव्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । जैन पुराण में एक कथा आती है कि चण्डा नगरी में एक कनकलता नाम की स्त्री थी । उस का एक पुत्र के अनुचित प्रेम हो गया था । वह पति पत्नी का तरह प्रणय रूप में रहने भी लग गया था जो मन्वन्ता के लाग उस से घृणा नहीं करते थे । दाना अन्न अनुचित मन्वन्ता से लब्ध । अतएव वे कि तु मन्वन्ता का साम्प्रदायिक सुनने बात थे । उन्हें दान देने में और स्वयंवरनादि सब धार्मिक कृत्य निरंतर किया करते थे । इसी प्रकार अग्रजना कथा रूपमें भी एक ऐसा ही दृष्टान्त मिलता है । अज्ञेया नाम की एक धार्मिका अपने आचरण में भ्रम हो गई थी उसे प्रार्थनित करके पुनः दाता बन गई थी । लाग पुरुष दाता में बदला रहने थे । इस से यह स्पष्ट है कि जैन समाज में अमानवता आचरण तक से पतित दान वाणी



प्रति तुम्हारा क्या प्रयाजन हा लगना है ! इस क उत्तर में मलिन द्वय अशाकदत्त ने कहा कि इस सप्ताह में जिस मनुष्य ने तुम्हारे दिव्यशक्ति का एक बार भी देव लिया है वह तुरन्त अपने लिये तुम्हें पाने का प्रयाजन रखता है । कबन एक तुम्हारा पति ही ऐसा पुरुष है जिस का तुम्हारे प्रति प्रयाजन नहीं है ।

प्रियदर्शना अशाकदत्त के मलिन भावों को समझ गई और उस ने मे नीच विचारों के नियं रूख लगाया । अशाकदत्त बड़ा लज्जित हुआ और वह यह कह कर कि वह तो केवल परिहास के लिये कहा था या निराश हाकर भवन से बाहर आगया । उस की आशा पर पनी फिर चुका था अतः वह बड़ा ही खिन्न और उदास था । एकाएक सागर च २ भा उस मिल गया और पूछने लगा कि मित्र इस खिन्नता और उदासी का कारण क्या है ! धृतरा का आज रात्र से हुए अशाकदत्त ने पहले शाने ने मरान ,दवाया आखें भर ला और कुछ निश्वास भी छा । यह सब जाल सागरच २ से आप्रद करान के लिये था । वह मागरने आप्रद किया तो कहन लगा - 'मित्र आप जानते ही हैं मलिन सब अनर्थों का मूल कारण हैं । वह निमा मानस के विमली हैं, ऐसी शक्ति है जिस क लिये कोई औपरि नहीं हाती और ऐसी माद-निता है जिस का कभी अन्त नहीं राना । स्नेह से परिपूख हाते हुए भी जिस प्रकार दीपशिखा जलती रहती है । ठीक वही दशा श्री का भी है । आज मैं आप का हँदने के लिये आप क भवन पर गया था आज वही एकान्त आनन्द प्रियदर्शना ने मुझ पर अपना कलुषित प्रेम प्रकट किया । बड़ी कठिनाई से अपने आप का उस क पज से बचाकर आया हू । भला मैं आज जिस घनिष्ठ मित्र का क्या रूप में भी जाला दे सकता हू । अब साब रहा था कि क्या मैं आत्मघात करलू या न करूँ क्योंकि वह तुराचारिणी अवश्य मेरे प्रिय मित्र के पास झूठा कमक मुझ

पर ही लगान की शिकायत करेगी। यदि वो घटना हुई है तब २ मिनट से ज़्यादा तो यह भाटाक न होगा क्योंकि मैंने उस दुष्ट का मनारथ पूरा नहीं किया। अतः यह और भी प्रणु पर नमक छिड़कने का समान होगा। यह सब साच है रहा था कि आरमिल गण। सागरचन्द्र के लिये ये वचन बड़ा का समान थे। उसने अपने आपको समझा और अशोकदत्त को सात्वना दी और उसे कहा कि हमारा मित्रता में यह घटना कोई विषमता पैदा नहीं कर सकेगी। पर तु मिय दशना के लिये सागरचन्द्र का हृदय टूट चुका था। अगर उस हृदय में वह पहले का मान और प्रणुव न रहे गये। उन का अपनी पत्नी मियदशना के आचरण पर पूरा संदेह हो चुका था। किन्तु वह सब हात हुए भी सागरचन्द्र ने आवश्यक शिक्षाचार और मयादा का उल्लेख नहीं किया। अन्तर में सागर का हृदय अवश्य विषम रहता था किन्तु उस रिश्ता को उस ने कभी भी अपनी पत्नी के सामने प्रकट नहीं किया। बाहर से वह दूषित ही मियदशना के साथ ऐसे शिक्षाचार से व्यवहार करता रहा कि उसे अपने पति पर संदेह तक नहीं होने पाया। मियदशना ने भी इस भय से कि दोनों भिन्ना में उस के कारण वैमनस्य उत्पन्न न हो अशोकदत्त के शिक्षाचार की बात अपने पति से न कही। इस प्रकार उन्चकाटि की मयादा पालन करते हुए दोनों ने अपना साथ जीवन बिना किसी कालुष्य के बिता डाला।

मियदशना की इस कथा से पात्रों को भल-भौंति पता चल गया होगा कि जैनधर्म में स्त्री का कितना उत्कृष्ट स्थान है। पति के लिये पत्नी के चरित्र पतन से बच कर जोष का और क्या कारण हो सकता है किन्तु सागरचन्द्र ने यह सब होते हुए भी अपनी पत्नी पर न तो कोष दा किया और न कभी उस का निरादर ही। उल्टा उस के साथ ऐसे शिक्षाचार का व्यवहार किया कि उसे वास्तविक रक्षा

का पालन करवाने के लिये वह अयाचर्यक है कि समाज उन का धार्मिक वातावरण में रखे । किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन कोई बच्चे का खेल नहीं है । बच्चानी समाज स्वयं सरल काम हाता है किन्तु इन्द्रियोका दमन-बड़ा कठिन काम है । सगर का इतिहास ऐम उदाहरणों का भण्डार पड़ा है जिन्हे २ शानी ऋषि और मुनियों का भी काम के बाणों का आग धार पानी पड़ी । बड़ी २ शानसचा करने वाले, ब्रह्मचर्य और सपन का उपदेश देनावाग उपदेश्य और उसका भरण करने वाले भावक क्या सच्चे हृदय से यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय निराश मरल काम है ? निरभला हूँ एक विषया से यह आशा करना कि यह अचर्य ही इन्द्रिय निराश कर लगी किन्ना अमूल्य है ! हमारी समाज में ऐसे अनेक पर हैं जहा माता पिता बड़ी उमर में भी कामवासना का त्याग नहीं करने और उनकी युवावस्था से परिपूर्ण बाल विवाह कम्पार बंधन की बंधाना में बला करती हैं । ऐम माता पिता का चाहिये कि वे स्वयं सपन का पालन कर और अपनी कथा का नातिव्य छोड़ धार्मिक वातावरण में रखें जिन से उस न विचार विह्वल न होने पावें । किन्तु इनके विरुद्ध आत्र कल न अधिकतर माता पिता स्वयं ता विनासपूर्ण जीवन व्यतन करते हैं और अपनी अवाध कथाय से असम्भवकी लभावना करते हैं । प्रात्मादन स्वयं देत है और जब अपरिपक्व अनुभव वाली कथा समाज में पतित हाती है ता शास्त्र की आशा के विरुद्ध जाने न सम्पूर्ण ज्ञान का उम पर धारने में कोई कमर बाँधी नहीं रखते । कोई दूसरा अपराध करे ता शास्त्र विमुख होनेका दुहाई दी जाती है और स्वयं अपराध हा ता शास्त्र की बात भी नहीं पूछी जाती । अस्तु मेरा कहने अनिप्राय यहो है कि विषयाया क लिये सांत्तिक और धार्मिक वातावरण पैदा करना और उन्ही में उनका रखना यह समाज का परम कर्तव्य है । यदि कोई समाज में पतित हा भी जाये ता उस पर शास्त्र

विमुक्तता के भार का थोकर उससे दुम्बवहार नहीं करना चाहिये किन्तु शान के महत्व का समझकर उसका सम्मान की श्रम प्रवृत्त करना चाहिये। मेरा तो मन्तव्य है कि यदि जैन शास्त्रों में बताए धर्म पर और नियमों पर हमारे लागू चलते तो न इतनी विधवाएँ हा हाती और न पर अटिल समस्या ही समाज के सामने उपस्थित होती।

इस में कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल से जैनधर्म में स्त्री का उच्च आशय सहीर रहा है और मनुष्य का एक अलाभिक शक्ति और अनाधारण तेज माना गया है। वास्तव में यह बात सत्य भी है किन्तु इन समय कुछ वातावरण और था। जब उनसे सवया भिन्न है। उस समय लाल अपनी सस्कृति के महत्व को पूर्णरूप से समझते थे और अपने जीवन में कार्यरूप में उस पर चलते थे। इन के नियम उनके चारों ओर उस धार्मिक विचारों का वातावरण भी अनुपलब्ध था। श्राव वातावरण बदल चुका है। अनेक बातों और धर्मों का साथ निरन्तर लड़ियों का सम्पर्क से हमारे सम्कार, विचार और शक्ति विचार परिवर्तित हो चुके हैं। जब हम प्रत्येक बात में जैन शास्त्र के विधानों के अनुसार चलन का दावा नहीं कर सकते। शुद्ध भवण सस्कृति के बालक हम सभी हैं। चलने हैं जब कि दूसरे धर्मों के मन्त्रों और विचारों का निकाल दें। और रीति विचारों का त्याग दें। तब अपने मिद्वान्तों का समर्थ और ठहरे अपने जीवन में उतारें। फिर सामाजिक अटिल समावाएँ अपने आप हल हो जाएँगी। किन्तु अर्थों का चला रंग एक ही निम नही उतर जाता। इन के नियम बड़े कठिन परिश्रम और त्यागमय जीवन की आवश्यकता है। इस मद्दान् काय की पूर्तिके लिए जैन नवयुवक और सुचारक विद्वान् कायक्षेत्र में उतारें ता भरण सस्कृति के पुन अस्मादय में कोई संदेह नहीं हो सकता।

# ॥ अहिंसा परमो धर्मः ॥

अहिंसा एक महान् धर्म है। हिंसा से निवृत्त होने का नाम ही अहिंसा है। आत्मा के आवागमन या पुनर्जन्म पर विश्वास रखने से प्राणायामन व प्राण्या के प्रति प्रतिष्ठा स्वयं पैदा हो जाती है। आवागमन का सिद्धांत प्राणायामन के प्रति समता रखने का आदेश देता है। वह कहता है कि जिस प्रकार तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो इसी प्रकार तुम्हें पराए का भी करना चाहिये। सवार में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पत्तन आदि छोटे से बड़े तक जितने भी जीव हैं सब समान हैं। भिन्न २ कमों के कारण से वे भिन्न २ धर्मों में पैदा हुए हैं। सुख दुःख सब का मनुष्य का तरह ही होता है अतएव उन सब के दुःख का अपने दुःख के समान समझना चाहिये। जो पुरुष ऐसा करता है वह महापुरुष कहलाता है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी धर्म किसी न किसी रूप में अहिंसा परमो धर्म, की ओर मनुष्य को प्रेरित करते हैं।

भारत के अतिप्राचीन और प्रधान धर्म वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के अवतारों और आचार्यों ने भा अहिंसा धर्म का जीवनकल्याण के लिये महान् धर्म बताया है। तीनों धर्मों के आचार्य और महर्षि अहिंसा पालन का उपदेश देने आए हैं। किन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। प्रत्येक सदी में नवीन परिस्थिति और वातावरण के कारण भिन्न २ विचार धारा के व्यक्ति पैदा होते रहते हैं। कुछ लोग स्वयं वरा अपने जीवन का धर्म के अनुकूल न बना कर धर्म को अपने



मनु० अ० ५, श्लोक ३६

अर्थात् — स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं का बनाया है । अतएव यज्ञ में पशु का वध अवश्य अपरुप्यवश्य दोष रहित है । इसी प्रकार खाने खिलाने हैं —

ओषध्य पराधो वृक्षास्तिर्यञ्च पक्षिणस्तथा ।

यज्ञार्थं विधन प्राप्ता प्राप्नुवन्त्युत्सृष्टी पुन ॥

मनु० ५/४०

ओषधि, पशु, वृक्ष आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम पानि में अर्चन प्रदत्त किया करते हैं ।

याहिकी हिता के विधान की तरह भाद्र में होने वाली हिता का भी मनु जी ने विधान किया है । भाद्र में खिलाने खाने वाली क्रिष्ण २ वस्तु से कितने २ दिन तक पितर प्रसन्न रहते हैं इस का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं —

द्वी मासौ मत्स्यमासेन श्रीमासान् हरिष्येन तु ।

औरभ्रेण चतुर शकुनेनाथ पञ्च वै ॥

पण्मासाश्चागमासेन पार्षतेन च सप्त वै ।

अष्टावैश्वस्य मासेन रौरवेण नवैव तु ॥

दशमासास्तु तृष्यन्ति पराहमहिषामिवै ।

शशान्मयोस्तु मासेन मासानेकादशैव च ॥

अ० ३ श्लोक २६८, २६९, २७०

अर्थात् — यदिनी आदि मन्त्रुजिह्वों के मांस से द्वा महीने पयन्त, हरिण के मांस से तीन मास तक, मेढ़ के मांस से चार महीने और खाने

सायक पत्नी के मांस से पांच महीने पूर्व त पितरों की नृमि होती है ॥ १६८ ॥

बकरी के मांस से छ मास, पुष्यमृग के मांस से साठ महीने  
एगुवातीय हरिण के मांस से आठ महीने तक, और रुक्माक मृग के  
मांस से नौ महीने तक पितरा का नृमि हुआ करता है ॥ १६९ ॥

बनेले सूअर तथा खगलों न से के मांस से दस महीने और लखे  
तथा कछुप के मांस से ग्यारह मास पर्यन्त पितर नृम रहते हैं ॥ १७० ॥

यज्ञ और भास्वति यमों में हिंसा विधान का एक यह दृष्टा कि  
वैदिक समाधनम्बो कितो काल में वायक रूप से आभिप्राय करने लग  
गए थे। दृष्टादि छोटी खातियों के साथ ता, बिना किसी शरा के  
मानादार करते ही वे किन्तु प्रायणों नही पकड़ी आह लेकर या मानादार  
पर धम की मादर लगाकर मांसदार करना शरय किया। इस प्रकार  
पशुओं का व्यापक रूप में सहार होने लगा और अन्त में हिंसा का आ  
भयानक और मानवजाति का पतन भी आरंभ होने लगा परिणाम  
हाता है बड़ी दुःखा। हिंसा से सामाजिक जीवन में निरपेक्षा, क्रूरता,  
दुष्टता और अत्याचार करने लगे और मानवता के आशु गुण सन्तान,  
सहनशीलता, अनुकम्पा और सहृदयता मानव समाज से हान लगे।  
गरी समाजिक व्यवस्था बिगड़ गई और साथ ही यमों में प्रभुत्व हा  
लगे। पतनान्मुख मानवसमाज का सम्भार की आर प्रभुत्व कालों के निच  
अब हिंसा के विरुद्ध आ-आत्मन का आभारकगी। सोभाग्य से वैदिक  
धर्म से ही कुछ ऐसी सम्प्रदायों का जन हुआ बिने वैदिकी हिंसा का  
विराग किया। वैष्णव आमीनारायक और शाक्यमात्र जैसी धर्मक  
वैदिक धर्म की शास्त्राओं के धमगुदवा देई इ हिंसा का गुले मीरान  
विराग किया और हिन्दूमात्र की पृथु रई गसवा का आभिप्राय  
निवृत्ति कराने में वे सफल भी हुए। हिंसा का विनाश



उन्होंने वैदिक धर्मग्रन्थों का त्याग नहीं किया किन्तु ग्रन्थोंमें ज्ञानेवालों  
दिसाभूतक पाठों का अहिताभूतक अर्थ किया। उदाहरण के लिये  
गामेध यज्ञ का विरलेषण करते हुए आर्यसमाज के मुख्य विद्वान् पं०  
रंगरा प्रसाद भी लिखते हैं —

“ बहुत से विद्वानों का कथन है कि वेद में पशुधर्म की छाया  
है, यही तक कि यज्ञ के लिये गावध यज्ञ का विधान है। यह प्रथम इतना  
विवादास्पद है कि उस की यहाँ विवेचना नहीं की जा सकती। तथापि  
इस वैदिक यज्ञ गामेध के नामध में जिसके अर्थ गावध के लगाए  
जाते हैं कुछ करना उचित समझते हैं। इस हम यज्ञ की जिम्बाबस्थामें  
भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्याथ प्रकाशन में बतलाते  
हैं कि संस्कृत भाषा के ‘गो’ शब्द के अर्थ केवल गाय के ही नहीं प्रायुष  
पृथ्वी और इन्द्रियों का भी है। गामेध का आधिभौतिक अर्थ लेती के  
लिये भरती जातना और आध्यात्मिक अर्थ इन्द्रिय-दमन है। कुछ लोग  
इस व्याख्या का उल्लास करते हुए उसे अर्थ की लीलातानी बताते हैं।  
वे यहाँ तक कह डालते हैं कि वेद के इस प्रकार अर्थ लगाना अयोग्य  
है। हमें देखना चाहिये कि डाक्टर राम बैसे प्रामाणिक और विश्वस्त  
पुण्य पारसिया के विषय में क्या सम्मति देते हैं। “ गाथ उर्वर का  
अर्थ पृथ्वी का नावभौमिक आत्मा है जो सब प्रकार के जीवन और  
वृद्धि का कारण है। शब्द का अन्वयार्थ ‘गो’ की आत्मा है। यहाँ  
उपमाालङ्कार है क्योंकि पृथ्वी की गाय से तुलना की गई है। ‘उस को  
काटने और बाँटने से पृथ्वी में हल लगाने का अर्थ लिया जाता है।  
अधूमजरा और स्वर्गीय समा ने जो आदेश दिया है उसका मतलब यज्ञ

धर्म का आदि स्वात पृ० १५४।

१ देखो सत्याथप्रकाश ११ समु० पृ० ३५।

है कि धरती का आठना चाहिये । अतएव वह मेरी के रूप का बदलना  
बनना है ।”

‘ हिन्दुओं की गाय के लिये प्रेम्हा प्रमिद है । वा भा निमित्त  
है कि प्राचीन काल के पारसी लोग भा उल्लेख बहुत आर वन्द्य ।  
तो फिर क्या य कहना अशुभ नहीं कि मानव का प्रार गाय है अर्थात्  
भाषा और भाव दोनों का समुचित विचार गाय दूर उसका अर्थ हम  
‘धरती का आठना कर सकते हैं ।’

इस उद्धरण से पाठकों का मनोनिर्माण बंध गया होगा कि  
किस प्रकार हिंसा के विरोधी वैदिक विद्वानों ने विभिन्न स्थानों का  
अथ अहिंसारक किया और वैदिक यज्ञों का प्रणि न अशु दुरभी  
उन यज्ञों को अहिंसामय निद किया । निम्नोक्त पर प्रत्यक्ष मराठीय  
या । आभिवाहार करने वाले लोग पर १३ यज्ञ का अर्थात् प्रभाव  
पड़ा और बहुत से लोगों ने आभिवाहार का त्याग भी किया । इसके  
विरोध कुछ अथ वैदिक विद्वानों ने वैदिक यज्ञों को बदलना ठीक नहीं  
समझा और उन्होंने मानवक यज्ञों का अथ मानवक हो किया निम्न  
उन मानवक हिंसारक यज्ञों का विधान कृत्रिम में बंध्य बताया । वेदों  
के नाम पर या यज्ञों की आद देव न बनाईना का समाज को  
रोकने के लिये और अहिंसा यज्ञ का प्रचार करने के लिये यह दूसरी  
कदम था । ब्रह्मपुराण और आनन्द आदि बहुत से वैदिक ग्रंथों  
में हिंसात्मक यज्ञों का कविपुत्रों के लिए किया है । अशु उद्धरण  
विश्लेषण से पाठकों का यह स्पष्ट हो गया होगा कि वैदिक लोग  
हिंसा को समर्थन करने वाले और नित्य करने वाले दो स्थानों पर  
बड़े जोर से चला रहा है और वे अपने अस्तित्व को बचाने  
रहे हैं । उसी प्रचार की अर्थात् अर्थ है - अ. ज.

में पाते हैं। वैदिकधर्मावलम्बियों में आभिषाहार करने वालों की संख्या भा बढ़ी है और आभिषाहार का भार विराध करने वाले शाकाहारियों की भी कम नहीं। कुछ भी हा यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिकधर्म में भी अहिंसा परमो धर्म' इस सिद्धान्त का सम्मान हुआ है और वैदिक धर्मवलम्बी बहुत बड़ा संख्या में इसका पालन करते रहे हैं।

## ॥ जैनधर्म में अहिंसान्तत्व की साधना ॥

वैदिक धर्म में जब हिंसा प्रवृत्ति व्यापक रूप में फैल गई थी तो हिंसा का विरोध करने वाले आभिषाहारियों के लिये खोभ का कारण बने किन्तु इस के विपरीत जैन धर्म के परम्परागत शास्त्रीय ज्ञान में जब कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मांसाहार का विधान बताया तो अहिंसा धर्म के पुनरी जैनसम्राज में बड़ा लाभ उत्पन्न हुआ। याज्ञिकी आदि जैन विद्वानों ने आचारण के कुछ सूत्रों का मांसपरक अर्थ दिया है जिनसे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जैनी लोग भी प्राचीन समय में मांसाहार कर सकते थे। इससे जैन सम्राज में बड़ा लाभ हुआ और इस का विरोध वैदिक धर्म में आर्यसम्राज के समान जैनधर्म के रक्षकों वाली सम्प्रदाय ने किया। स्थानकवाक्य सम्प्रदाय के आचार्यों और विद्वानों ने सूत्रों में आए मांसपरक शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक किया और हिसात्मक अर्थका सन्दर्भ किया। जैनधर्म की दिगम्बर सम्प्रदाय के पृथ्वीगादि आचार्यों ने वा सूत्रों का मांसमत्त्वपरक ही अर्थ मानकर उन सूत्रों का मानने वालों की निन्दा की और उपदेश दिया कि ऐसे सूत्रों को नहीं मानना चाहिये। सूत्रों के न मानने के लिये यह वेदना महाना मात्र है। वास्तव में दिगम्बर लोग सूत्रों को इस कारण नहीं मानते कि उन में वनस्पति वस्त्र का विधान है जिन में श्वेत वस्त्र मतलब

पुष्टि होता है। अस्तु, मेरे अपने विचार से जैनधर्म या जैनमत सत्यति  
विश्वी नीव हो 'अहिंसा परमो धर्म' पर रखी गई है उस में मांस  
मात्स्यादि का विधान अपवादा रूप में भी कर दिया हो यह समझ प्रतीत  
नहीं होता। अतः प्रारम्भसे ही सूत्रोंका वनस्त्यतिपरक अर्थ होना चाहिये।

जैन दर्शन के सुरुवर विद्वान् श्री प० सुखलाल जी स्वामी तो  
मूर्खों के मांसमत्स्यादिपरक अर्थोंको आपवादिक मानते हैं। उनका निष्पक्ष  
विचार भी पाठकों की शान वृद्धि के लिये यहां लिये जाते हैं—

“कहाँ भी मुद्रिमान् यह तो साच ही नहीं सकता कि सूत्रों की  
रचना के समय रचनाकार को वनस्त्यति और मांस आदि दोनों अर्थ  
अभिप्रेत होना चाहिये। निश्चित अर्थ के बावजूद सूत्र परस्पर विरोधी  
ऐसे ही अर्थों का बोध करावे और विश्वामुक्तों को संशय या भ्रम में डालें  
यह समझ ही नहीं है। तब यही मानना पड़ता है कि रचना के समय  
उन सूत्रों का कोई एक ही अर्थ सूत्रकार का अभिप्रेत था। कौनसा  
अर्थ अभिप्रेत था इतना विचारनाभर बाकी रहता है। अगर हम मान  
लें कि रचना के समय सूत्रोंका वनस्त्यतिपरक अर्थ था तो हमें यह अभाव्य  
मानना पड़ता है कि मांसमत्स्यादि का अर्थ पाँदे से किया जाने लगा।  
ऐसी स्थिति में निम्नस्थ संघ के विषय में वह भी साचना पड़ेगा कि क्या  
कई ऐसी अवस्था आई थी जबकि आपत्तिवश निम्नस्थ-मध-मांस मत्स्या  
दि का भी ग्रहण करने लगा हो और उस का समर्थन उही सूत्रों से  
करता हो। इतिहास कहता है कि निर्णय-संघ में कोई भी ऐसा छाटा  
बड़ा दल नहीं हुआ जिस ने आपत्तिकान् में लिये गए मांसमत्स्यादि के  
ग्रहण का समर्थन वनस्त्यति वाचक सूत्रों का मांस मत्स्यादि अर्थ करके  
किया हो। असंभवा निर्णय संघ के सम्ये इतिहास में आपत्ति और

अपवाद के द्वारों प्रसंग आए हैं पर किसी निग्रन्थ दल ने आम्नादिक स्थिति का समयन करने के लिये अपने मूलविद्वान्त आदिशा से दूर जाकर सूत्रों का क्लिष्ट विरुद्ध अर्थ नहीं किया है। सभी निग्रन्थ अपवाद का अपवाद का से सुरा ही बखन करते रहे हैं। जिसकी सार्थी छेद सूत्रों में पद पद है। निग्रन्थस्य का ब्यवहार भी ऐसा रहा है कि कोई ऐसे विरुद्ध अर्थ का सूत्रों की व्याख्या में पीठ स्थान देता वह निग्रन्थस्य का अर्थ ही नहीं सकता। तब यही मानना पड़ता है कि रचनाकाल में सूत्रों का असली अर्थ तो मांसमत्स्य ही था और पीछेसे बनरूपि अर्थ भी बना जाने लगा।”

“इस के सिवाये कोई २ सांख्यिक निग्रन्थ प्रचारक नए २ प्रदेशों में अग्ना निराभिय-भावन का तथा अहिंसा-प्रचार का प्रयोग करते पाते थे वहा कि उन का पक्के अनुयायी मिलने के पड़त मौजूदा ज्ञान पान की व्यवस्था में से भिदा ले कर सुख-सुख करना पड़ता था। कभी कभी ऐसे भी रागादि सकल उपस्थित होते थे जब कि सुवेद्यों की सहाय के अनुसार निग्रन्थों का खान मान में अपवाद मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता था। वे और इन के बही अनक परिस्थितियाँ पुराने निग्रन्थस्यके इतिहास में वर्णित हैं। इन परिस्थितियों में निराभिय भावन और अहिंसा प्रचार के प्रयोग का आत्यन्तिक खान रखते हुए भी कभी २ निग्रन्थ अपनी एषणीय और कल्प्य आशङ्क की मयादा की सकल रूप से पालते हुए मांस मत्स्यादि का ग्रहण करते हो ता कोई अचरम की बात नहीं। हम सब आचारार्थ और दशवैकान्ति कादि आगमों के सामिप आहार-सूचक सूत्र देखते हैं और उन सूत्रों में वर्णित मयादाओं पर निचार करते हैं तब स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामिप आहारका विधान क्लिष्ट अपवादिक और अपरिहार्य स्थिति का है।”

अस्तु कुछ भी हा यह बात तो स्पष्ट है कि वैश्विक धर्म न समान जैनधर्म में हिंसात्मक शास्त्रों पाठों के आधार पर यदि सम्प्रदाय या नए दल पैदा नहीं हुए। हा जैनधर्म क्योंकि अनाग्निमान में अहिंसात्मक है या दूसरे शब्दों में अहिंसा ही इस के प्राण है इस कारण जब भी कभी किना ने जैनधर्म पर हिंसा का साधारण भी दाप लगाया तो सारी जैनधर्मा ने एक आवाज से उस का विरोध किया। आ धर्म अनाग्निमान से अन्य धर्मों में हिंसा प्रवृत्ति का भार विरोध करता आया है और मानव समाज का हिंसाप्राम स हटाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा है यह भला अपने धर्म के लिये हिंसा का कल्पना भी कैसे कर सकता है। महात्माबुद्ध ने तो यह विरहित यानिकी ग्नि का विचार बाद में किया किन्तु जैनधर्म पहले से ही उनका विरोध करता आ रहा था। गांधीजी बुद्ध के विषय में उनके जीवनकाल में ही आभिरास होकर प्रवृत्त हो गए थे किन्तु महावीर के अनुयायी कठिन से कठिन समय में भी अहिंसापथ से विमुख नहीं हुए। यही कारण है कि बुद्ध की अहिंसा का अवलोकन महात्मा जी अहिंसा का प्रभाव भारतीय समाज पर अधिक पड़ा।

भगवान् महावीर ने अहिंसा धर्म का प्रतिपादन और प्रचार पड़े ही अलौकिक रूप से किया। उन्होंने मानव जाति के समता का उपदेश देने हुए कहा कि जीवा में दिव्य देन वाला शारीरिक वा मानसिक वैषम्य सब कम मूलक है वास्तविक नहीं। हम लिये बुद्ध से बुद्ध योगि में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानव यानि में पैदा हो सकता है और मानव का जीव भी बुद्ध कर्मों के परिणाम स्वरूप बुद्धयोगि में पैदा हो सकता है। अतएव अहिंसा मार्ग का अनुसरण करने हुए सब के साथ समता का व्यवहार करो। इस के अतिरिक्त भार्गव ने अहिंसा का अविच्छिन्न महत्व एक ही पापित करने हुए भी साधु के लिये पृथक् आह्वान के लिए पृथक् अहिंसापथ का उपदेश दिया। साधु के लिये

ता उ हा १ अहिमाधम का पालन करने क लिय सब प्रकार का कठिन म कठिन आपत्तिया को सुम्न करना की भी आज्ञा दी । उन्होंने कहा कि मातु क मामने सब स बड़ा जीवन का लक्ष्य मात्र प्राप्त है और अहिंसा धम का मनसा, वाचा और कर्मणा पालन किये दिना वह प्राप्त होने वाला नहा है । उन्होंने ये यह भा बताया कि सत्य, अनीय, प्रसन्नचय और परिग्रह स्वाम य चार महाव्रत भा अहिंसा धम की पूणता के लिय हा परमावश्यक है ।

गृहस्था क लिये भगवान् ने कहा है कि गृहस्था को बनवि अहिंसाधम का पालन करना पूणरूप से कठिन है शत्रुता भी उ है जगें तर बन मने अपने जीवन के सभी कार्यों में अहिंसा का पालन करना चाहिये । गृहस्थ जीवन की मर्यादा के लिय सदाचार और सद्विचार परमावश्यक है विन का आचार भी अहिंसा धर्म है । परन्तु गृहस्थ का मातृभाग की अतिकठिन सोपान पर उतरने की आवश्यकता नहा है । वह अपने लिय प्रतिपादित धम का हा आचरण करता रहे तो उस के कल्याण के लिये पयाप्त है । वहि धम म मनुष्य के भाग्य का निणय हरदर के हाथ में है किन्तु जैनधर्म म मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का कता धना है । भगवान् अपने उपदेशों में कहने य कि यदि तुम्ह चाहते हो ता शत्रुता बनाने वाली द्विषा की भावना का त्याग करा और जीवनान के प्रति मैत्री की भावना रखा और फिर दयनाहुम उत्तरोत्तर सुख की आर हो वदाग । यह भगवान् क उा दिव्य और आर्य उपदेशों म ही प्रताप है कि प्राचीन परम्परा से चले आते भगण सहाति क प्राणभूत अहिंसामाग पर आज भी जैनसमाज सुचारु रूप से चल रही है ।

आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव के समय विष प्रकार अहिंसा

धर्म ने मनुष्य को समझा जाता था और उस का पालन किया जाता था ठाक उसी प्रकार की माया परतमान समय में भात्रेन समाज में पाई जाती है। प्रायः सब धर्मों में अनुयायी पड़ी सख्या में अभिभाहार से प्रवृत्त हो चुके हैं किन्तु सामान्यतया जैनधर्मावलम्बी अब भी पूर्ववत् शाकागरी हैं और भगवान् के मदेश का नर्ग मूल हैं। आज भी जैन समाज के व्यवहारिक, सामाजिक और अध्यात्मिक आदि मन्त्रालयों में अहिंसा के मन्त्र का उपयोग नहीं की जाती। परन्तु शिथिलता का हाना तो अवश्यभावी है किन्तु व्यापक रूप में जैनधर्म का पालन करना है।

धर्मगत सभ्यता का आचार नीति में मानुष और जैन धर्म समाज का विधान है। २ मत में प्रकार है -

**अहिंसा मन्त्रमस्तेय उच्यते परिमहा ।**

अर्थात्-अहिंसा, मत्स्य, अर्चोय, ब्रह्मचर्य, अष्ट अण्णिकद्वय पाञ्च महाव्रत है। इन पाञ्च महाव्रतों में भी पाठक ध्यान कि सर्वप्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत को दिया गया है। सामान्य मन्त्रों में जैनधर्म का नींव ही अहिंसा धर्म पर टिका हुआ है। यह कारण है कि जैनधर्म का धारक के जीवन में अनेक विद्, उपकरण या विधान अहिंसा के पालन का बोध कराते हैं। मुख्यतया, खोदरस्य और मयूर विच्छादि सब उपकरण अहिंसा पालन करने के उपकरण हैं। प्रतिलम्बन विद्या भी इसी सिद्धान्त की प्रतीक है। सत्त्व में जैनधर्म की प्रत्येक विद्या अहिंसा के सिद्धान्त से आतृता है। ऐसा लगता है कि अहिंसा ही जैनधर्म है और जैनधर्म ही अहिंसा सिद्धान्त का वास्तव्य है। अहिंसा सामान्य में जैन धर्म का आत्मा है। यदि उपर्युक्त पाञ्च महाव्रतों में से अहिंसा महाव्रत को हटाने से, मूल दिया धार्य और जैनधर्म के चेत



बाकी ष चार महाव्रत ही मान लिये जाए तो जैनधर्म, जैनधर्म नहीं रह जाता । अतएव अहिंसा महाव्रत को यदि शेष चार महाव्रतों का राजा मान लिया जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं हागा । भगवान् महावीर के उपदेश में भी यही पता चलता है कि शेष चार महाव्रतों का पालन भी अहिंसा महाव्रत की पृथक्ता का और ले जाना वाला है । इन प्रकार जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है और इसी अहिंसा व प्रचार और पालन व कारण जैनधर्म विश्व व धर्मों में एक ऊँचा स्थान प्राप्त करता है ।

अहिंसा शब्द की परिभाषा जब धर्मों के आचार्यों ने अथवा दृष्टिकोण से भिन्न २ प्रकार से की है । जैनाचार्यों का परिभाषा व अनुसार हिंसा में बचने का नाम अहिंसा है । वे कहते हैं कि कत्तार या प्रमाण व बलीभूत हाकर मनसे, बाणी से या कर्म से दूसरे प्राणी को दुःख पहुँचाना या प्राणी में विभुक्त करना हिंसा होती है । जो प्राणी ऐसा नहीं करता वह अहिंसाधर्मका पालन करता है । हिंसा दो प्रकारकी होती है । पहली भावहिंसा और दूसरी व्यवहिंसा । आत्मा में भग्न द्वेष नाम बाध मान, माया आदि विषुक्त भावों का उत्पन्न होना भाव हिंसा है । इन बलाओं से आत्मिक ज्ञान का महान् हानि पहुँचती है । इस हानि रूपाया व बलीभूत हाकर अब कोई प्राणी दूसरे प्राणी का बध कर लेता है तो वह व्यव हिंसा बन जाती है । जैन सिद्धान्त के अनुसार यह दोनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है । वास्तव में देखा जाय तो हिंसा ही ममत्त लोभों या पापों का जननी है । हिंसा से बढ़कर ममत्त में कोई पाप नहीं । असत्य भाषण, चौर्यकर्म और दुराचरण आदि सब हिंसा की ही भिन्न २ शाखाएँ हैं । अतएव हिंसा के त्याग से ही मानव जीवन सुखी बन सकता है । भगवान् महावीर स्वामी ने विश्व को अहिंसा का म दश देते हुए कहा था —

‘ ज्ञान का ज्ञान लक्ष्य शान्ति है और शान्ति का एकमात्र उपाय अहिंसा है । अतः यदि तुम जीवन के लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हो तो उसके एकमात्र माध्यम अहिंसा धर्म को कभी मत भूना ।’

अब हम सब शान्तिपूर्ण जीवन बिताना चाहते हैं तो हमारा कतब हाथा है कि हम दूसरों का भी शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं । दूसरों के जीवन पर आक्रमण करके अपने लिये शान्ति की इच्छा करना क्या है कर्मों द्वारा की प्रतिनिधा अवश्य होती है । यदि हमें हमारे जीवन में अशान्ति का ज्ञान स्वाभाविक है । अतः शान्तिपूर्ण जीवन बतलाने के लिये अहिंसा मार्ग ही अधिकतम है । इस पर चलने से जीवन में शान्ति का ही साम्राज्य मिलता है ।

ऐन धर्म की अहिंसा में एक और बड़ी विशेषता हम मिलती है । किसी का मत है कि पशु का न मारना अहिंसा है । यदि कहता है मनुष्य का न मारना ही अहिंसा है किन्तु ऐन धर्म तो प्राणीमात्र को मत, पचन और कम से न मारने को अहिंसा मानता है । इस प्रकार ऐन धर्म का अहिंसा प्राणीमात्र न बल्कि यैव जगत् का उपदेश देती है ।

ऐन धर्म में प्रकृति पाँच प्रकार के भाते पाते हैं । एक इन्द्रिय वाले दो इन्द्रियाँ वाले, तीन इन्द्रियाँ वाले चार इन्द्रियों वाले और पाँच इन्द्रियाँ वाले । एक इन्द्रिय वाले जैसे पत्त । पत्त के पत्तल दर्शनीय होती है । दो इन्द्रियों वाले शूल, कीप और लट आदि । इनके केवल काया और मुख दो इन्द्रिय होती हैं । तीन इन्द्रियों वाले लीन, कीड़ी मकड़ आदि । इनके काया मुख और नासिका तीन इन्द्रिय होती हैं । चार इन्द्रियों वाले मक्खी, मच्छर और शुभ्र आदि । इनके काया, मुख, नाक और आँख ये चार इन्द्रिय होती हैं ।

रख कर लिये गया है। अतः कट्टरपंथी सुन्नो को उस ध्यान  
पूयक विरेक सम्मर्पना और जीवन में उतारना चाहिये।

हिमा यदि जीवन की एक वास्तविकता है, तो अहिंसा जीवन  
का एक महान् धर्म है। हिंसा से जीवन का निवाह हास्य है और  
अहिंसा जीवन की परिपुष्टता का आनन्द लाती है। अतः हमारा यह  
कथन होना चाहता है कि हम जीवन की परिपुष्टता की आश करें किन्तु  
परिपुष्टता की आश करने के लिये जीवन निवाह की भी उपहा नहीं  
की जा सकती। जीवन के सामाजिक आर्थिक आर राजनैतिक आदि  
समानता में जीवन की शान्तिमय प्रगति के लिये अनेक हिंसामय  
उपायों का काम में जाना पड़ता है जिनके बिना सामाजिक व्यवहार  
चल नहीं सकता। यदि डाकू, चोर, सुंदरे और घातकों का भी दण्ड  
देने में हिंसा मान कर उसका पालन करने लगे तब तो सत्ता में  
अराजकता छा जाए और भयानक से भयानक उत्पन्न होने लग जाएँ  
विरभला सत्ता में शान्ति की स्थापना कैसे हो सकती है? अतएव  
सत्ता की व्यवस्था का ठीक बनाए रखने के लिये और शान्तिपूर्ण  
जीवन की स्थापना के लिये या हिंसा की जाती है वह तो पुण्य का एक  
धारण कर लेता है या दूसरे को। म वह किता दद तक अहिंसा धर्म  
का पोषण करती है। अतः धूर्तों और आतताइयों को दण्ड देने में  
काई दोष नहीं। इसमें अहिंसा धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं  
पड़ती। यही कारण है कि इन राजनीति के अनुसार जो पाँच मंत्र  
बतलाए हैं उनमें सबसे पहला मंत्र 'दृष्टस्य दण्डः' अर्थात् दृष्ट को दण्ड  
देना है। इसी प्रकार यदि कोई शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करे,  
हमें परतन बनाना चाहे या लूट मार करे तो उसका मुकाबला करके  
उस पाठ हटाने या मारने में भी काई हिंसा नहीं माननी चाहिये।  
यैन राजनैति म विपु राष्ट्र रक्षा' अर्थात् शत्रु से राष्ट्र का

चा क ने को पाश्चर्को यज्ञ ज्ञत या है । दुष्ट आततायी और शत्रु ने  
 करने में यदि कुछ हिंसा मान भी ली जाय तो भी यह 'अहिंसा धर्म'  
 ही और ही मनुष्य का जन्मती है । विगर्भक व अल्प हिंसा से भविष्य  
 जाने वाली महती हिंसा से मुक्ति मिलती है । विरोध न करके  
 जाने विचारों को कुचलना, कायरता दिखाना और शत्रु का शिकार  
 न जानना यह क्या हिंसा नहीं है ? इस सत्य का पापण करते हुए और  
 आत्म-संरक्षण पर आर देते हुए राष्ट्रभिरा महात्मा गांधी लिखते हैं —

“आततायी के सामने कायर बन जाना, भाग जाना या  
 मन से हिंसा करते रहना क्याही पुरा है । उसकी अपेक्षा तो निर्भय  
 और यत्नपूर्वक बन कर हिंसा करना ही अच्छा है । क्योंकि इस रास्ते  
 किसी न किसी दिन मनुष्य अहिंसा तक पहुँच जायगा ।”

एक बार एक पढ़न ने महात्मा जी को पत्र लिखा कि यदि  
 कोई देश वैसा पुरुष राह चलती स्त्री पर बलात्कार करे तो ऐसे सक्द  
 में कभी दूँ वह क्या करे ? दण्ड क्या करें ? इसके उत्तर में, महात्मा  
 जी ने लिखा —

‘असल चीज तो यह है कि स्त्रियों निर्भय बनना सीख जाएँ ।  
 मेरा यह हृद विश्वास है कि जो स्त्री निदर है और हृदतापूर्वक यह  
 मानती है कि उसकी गतिविध ही उसका सतत्त्व की सर्वोत्तम दाल है,  
 उसका शील स्वयं सुरक्षित है । निदरता या आस्था  
 यह शिक्षा एक दिन में नहीं मिल सकती । अतएव यह भी  
 समझ लेना चाहिये कि इस दरम्यान क्या किया जा सकता है । जिस  
 स्त्री पर इस तरह का हमला हो, वह हमले के समय ‘हिंसा अहिंसा का  
 विचार न करे । उस समय अपनी रक्षा ही उसका परम धर्म है । उस  
 समय जो साधन उसे लूके उसका उपयोग करके वह अपनी पवित्रता’

की ओर अपने शरीर का रत्ना करे । इन्तर ने उस नागून दिया है, दात पिय है और लक्ष्मि ही है । वह इनका उपयोग करे और कस्तूर मर जाय । मौत का भय से पुनः हर एक पुरुष या स्त्री स्वयं मर के अपनी और अपने की रत्ना करे । सच तो यह है कि मरना हमें पसन्द नहीं होता । हम निचे आगिर हम घुटने टुक देने हैं । कोई मरने का बदले सलाम करना पसन्द करता है, कोई धन लेकर जान सुझाता है, कोई मुँह में तिन्का लेता है और कोई चींटी की तरह, रेंगना पसन्द करता है । इसी तरह कोई लाचार हाकर लूटना छोड़, पुरुष का पशुता के पक्ष दावाती है ।

य जात मैंने तिरस्काररस नहीं मिली केवल वस्तु द्रव्य का ही विक्रि किया है । सलामी से लेकर सतीत्वभंग तक की सभी क्रियाएँ एक ही चीज की मूचक हैं । जीवन का लोभ मनुष्य से क्या क्या नहीं कराता । अतएव जो जीवन का लोभ, छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है । 'तिन त्यक्तेन भूञ्जीया' इस मन्त्र के अर्थ का हर एक पाठक समझ ले और कण्ठाय कर ले ।"

### दर्शक पुरुष क्या करें ?

'यह तो स्त्री का धर्म हुआ लेकिन दशक पुरुष क्या करें ? सच पूछा इस का जवाब मैं ऊपर दे चुका हूँ वह दशक न रह कर रक्षक बनेगा । वह स्वर्ग से देखेगा नहीं । वह पुलिस को नहीं डराने चाहेगा वह रेल की चञ्चोर बँधकर, अपने आपका कृत्याय नर्त मानेगा । अगर वह अहिंसा को जानता होगा तो उसका उपयोग करते २ मर मिरेगा, और सड़क में पसी बहने को, नवारेगा । अहिंसा से नहीं दिया दाग चहने की रत्ना करेगा ।'

महात्मा जो क इस उच्चर से यह स्पष्ट है कि दुष्ट को दण्ड देने

समय हिंसा अहिंसा का विचार बिल्कुल छोड़ देना चाहिये । श्री को निभय हाकर अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हिंसा-अहिंसा का विचार छोड़ कर जिस प्रकार भी हो सर्व दुष्ट का सामना करना चाहिये और मरामरने तक का सह्य न करना चाहिये । दशक की भोखी की रक्षा के लिये अपनी जान की बाजी लगा देना चाहिये । जो लक्ष्म्ये अहिंसा धर्म की समझता है और उनका पालन करता है वह दुष्ट के सामने कभी भी कायरता नहीं दिखाता । वह वारों की तरह या ता दुष्ट को सतम कर डालता है या स्वयं लड़कर मिट जाता है । इस लिये अहिंसा धर्म वीरों का धर्म है । कायर और हठवोक इस धर्म का पालन नहीं कर सकते ।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को यदि बीसवीं सदी के अहिंसा के अवतार मान लिया जाये तो इनमें अतिरिचानि न होगी । बहुत से विद्वानों ने महात्मा गांधी की तुलना भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध से की है और बहुत से इनको उन से भी उदात्त मानकर मानते हैं । निम्न देह कुछ लोगों को इसमें हलका भी है किन्तु कुछ भी हो मैं अपने हृत्किण्ठ से यह दावे से कह सकता हूँ कि पूजायतारों या पूजाचार्यों की भाँति ही महात्मा जी ने अहिंसा का वास्तविक स्वरूप को समझा था । उन्होंने अपने जीवन में सुधार रूप से अहिंसाधर्म का पालन किया और विश्व में इस का प्रचार किया । मैं तो कहूँगा कि महात्मा गांधी की अहिंसा में कुछ और भी विशेषता है जिस के कारण सतार में आज ठम जा इतना महत्व है । बीसवीं सदी जैसे विकासवाद के युग में राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसाधर्म को जो ऊँचा स्थान मिला है इस का भूयः राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का ही जाता है ।

महात्मा जी ने अपना सारा जीवन अहिंसाधर्म को उगलाना म

लग या । उन की उपासना भी सभार के साधारण महात्माओं की भाँति निष्क्रिय नहीं थी । वह सक्रिय थी । उन्होंने केवल अहिंसाधर्म व मत्त्व का समझने में ही अपनी शक्ति नष्ट नहीं की किंतु जीवन व ध्यवहारिक सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में अहिंसाधर्म का कार्य रूपा में परिणित करने देखा और उन्हें सर्वत्र इनका कमरकाट दृष्टिगोचर हुआ । आ भी आन्दोलन के चलाते थे उस का मूलाधार अहिंसा होता था और वे उस में मगल हाते थे । भारत की स्वतन्त्रता के आन्दोलन की नींव भी महात्मा जी ने अहिंसा के सिद्धान्त पर रखी । बरतानियों जैसी बड़ी सन्तानत व साथ ढक्कर भी उन्होंने अहिंसा के शस्त्र के साथ ली । स्वतन्त्रता प्राप्त करने व लिये भारतीयों का अहिंसा के शस्त्र का सम्पात और उपयोग भी महात्मा जी ने सिखाया । भारत के लोग उन क बताए हुए मार्ग पर चले और उन का परिणाम यह हुआ कि अंत में भारत की विजय हुई । विदेशियों का भारत भूमि छोड़ कर जाना पड़ा और अनेक सदियों से छाई हुई सन जना की हम ने निर से पाया । जमरा और जापान जैसे बड़े व शस्त्रवाही वा युद्ध का प्राचा व देने व अपनी स्वतन्त्रता व अधिकार वा बैर और भारत अहिंसाधर्म के जन पर स्वतन्त्र हुआ । यह सब राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के नेतृत्व व कारण हुआ । भारत भूमि का यह न भाग्य था कि न्य में महात्मा जी जैसे महापुरुष का जन्म हुआ । मैं ता र हे वास्तव में अहिंसाधर्म का अचला मानता हू ।

बधा म गांधी सेवा मय की जन्मा म एक बार महात्मा जी ने भाषण किया था जिन में अहिंसा धर्म व महत्व पर प्रकाश डाला था । उन भाषण व कुछ अंश भी यहां पन्नों के जान व लिये देता हू ।

## ‘अहिंसा’ शब्द निषेध ।

“जो अहिंसक है उस व हाथ में चाहे को भी उद्यम क्या न रहे उस में वह अधिक से अधिक अहिंसा लाने की कोशिश करेगा ही। यह तो सत्यस्थिति है कि बगैर हिंसा के कोई उद्दाग चल नहीं सकता। एक दृष्टि से जीवन के लिये हिंसा अनिवार्य मान्य होती है। हम हिंसा को घटाना चाहते हैं और हाथ में तो उस का लोप करना चाहते हैं। मतलब यह कि हम हिंसा करते हैं परन्तु अहिंसा की शार कदम बगाना चाहते हैं। हिंसा को त्याग करने की हमारी कल्पना में से अहिंसा निकला है इस लिये हमें शब्द भी निषेधात्मक मिला है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक है।”

## ॥ अहिंसा को मर्यादित व्याख्या ॥

अर्थात् जो अहिंसा को मानता है वह उद्दोग करेगा उस में कम से कम हिंसा करने का प्रयत्न करेगा। लेकिन कुछ उद्दोग ही ऐसा हैं जो हिंसा बनाते हैं। जो मनुष्य स्वभाव से ही अहिंसक है वह ऐसा न द एक उद्दाग को छाड़ ही देता है। उद हरणार्थ यह कल्पना ही नश की जा सकती कि वह कसाई का घधा करेगा। मेरा मतलब यह नहीं कि मांसाहारी अहिंसक हा ही नहीं सकता। मांसाहार दूसरी ध्रुव है। मनुष्य में चाहे स ब्राह्मण और वृथा का झाड़ पर बाकी के सब तो मांसाहारी हैं ही। किन्तु फिर भी ये अहिंसा को ‘प्राथम्य’ मानते हैं। यहाँ हम मांसाहारी का हिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं। जो मनुष्य मांसाहारी है वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि मांसाहारी मनुष्य अहिंसक नहीं होता। येण्डूव स बटक



अहिंसक मनुष्य कहा मिलेगा लेकिन वह भी तो पहिले मांगारी था। बाद में उस ने मांसाहार छोड़ दिया। लेकिन अब मांसाहारी था तब भी अहिंसक हो था ही। छोटने पर भी, मैं जानता हूँ कि कभी २ घंटे वह अपनी चून्नी न पाल चला जाता था तब मांस खा लेता था या हाकड़र लाग आमत करते थे तो ग्रा लेता था। लेकिन उस से उस की अहिंसा बढ़े ही कम हो जाती थी। इस लिये यश पर हमारी अहिंसा की व्याख्या परिमित है। हमारी अहिंसा मनुष्यों तक ही मर्यादित है।

## ॥ हिंसक और अहिंसक उद्योग ॥

लेकिन मांसाहारी अहिंसक तो बाय बाय छोड़ ही देता है। जैसे वह शिकार कभी नहीं करेगा। यानी जिस से हिंसा का बिलार जाता ही जाता है। इन मनुषियों में वह कभी न पड़ेगा। वह युद्ध में नहीं पड़ेगा। युद्ध में सम्भाव्य बनाने के कामस्थानों में काम न करेगा। उन के लिये नए २ शस्त्रों की खोज नहीं करेगा। मतलब वह ऐसा कोई उद्योग नहीं करेगा जो हिंसा पर ही आश्रित है और हिंसा का जाता है।

अब कापासद्योग एम जी है जो जीवन के लिये आवश्यक है लेकिन ये बिना हिंसा के चल ही नहीं सकते। जैसे रोती का उद्योग है ऐसे उद्योग अहिंसा में आ जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उनमें हिंसा की गुआयश नहीं है अथवा वे बिना हिंसा के चल सकते हैं। लेकिन उनकी बुनियाद हिंसा नहीं है। और वे हिंसा को बढ़ाने भी नहीं हैं। ऐसे उद्योगों में होने वाली हिंसा हम घटा सकते हैं और उसे

अग्निहोत्र हिंसा की वृद्ध नक ले जा सकते हैं। क्योंकि आग्निरा अहिंसा हमारे हृदय का धर्म है। हम वह नहीं बढ़ा सकते कि किसी उद्योग का अहिंसा से अनिवार्य सम्बन्ध है। वह तो हमारी भावना पर निर्भर है। हमारा हृदय अग्नि का भाग है। हम अपने उद्योग में अहिंसा लाएंगे।

१. अहिंसा केवल धारणा नहीं है। मान लीजिये एक मनुष्य है। कारी काम लेता है। और सुख से रहता है। किसी का कष्ट नगैर नहीं करता। लेकिन हमेशा दूसरों को हमारा और मिलनियत पर दृष्टि रखता है। एक कशमकश से कगोड़ करना चाहता है। ता मैं उस अहिंसक नहीं बढ़ूंगा। ऐसा काहूँ धर्म नहीं जिसमें हिंसा ही नहीं। लेकिन धर्म धर्म में ही जो हिंसा को ही बढ़ाते हैं। अहिंसक मनुष्य को उन्हें धर्म समझना चाहिये। दूसरे अनेक धर्मों में अगर हिंसा के लिए स्थान है तो अहिंसा के लिये भी है। हमारे दिल में अगर अहिंसा भरी हुई है तो हम अहिंसक दृष्टि में उन धर्मों का करें। हम उन उद्योगों का दुरुपयोग न करें।

## १. प्राचीन भारत की अर्थ-व्यवस्था ।

मेरा कुछ ऐसा अनुमान है कि विहोत्र हिन्दुस्तान के राजा का निवास, किया उन्होंने समाज का मद्देन ही ऐसा किया जिस से शोषण और अहिंसा के लिये कम से कम स्थान रहे। उन्होंने मनुष्य के अधिकार का विचार नहीं किया। उस धर्म का विचार किया। वह अपनी परम्परा और योग्यता से अनुसार समाज के हित का उद्योग करता था। उसमें से उम्र, रोटी भी मिल, वाली थी वह दूसरी बात थी। लेकिन उसमें कपड़ों की धुंसने की भावना न थी। लाभ की भावना न थी। धर्म की भावना थी। वे अपने धर्म का

कमत न रोटी का बोझी चल जाती थी। समाज की सेवा ही मुख्य  
चात्र था। उद्योग करने का उद्देश्य व्यक्तिगत नफा न था। समाज  
का सर्वजन ही ऐसा था। उदाहरण यह — गांधी में १९६ की उरुम  
हानी थी वह गेहूँ के लिये औजार देया करता था लेकिन गांधी उसे  
पैसे नही देता था। इहानी समाज पर यह बंधन लगा दिया था कि  
हम अनार दिया जाय। उसमें भी दिसा काफी हा सकता थी। लेकिन  
सुव्यवस्थित समाज में उस न्याय मिश्रता था। और किसी समय में  
समाज सुव्यवस्थित था ऐसा मैं मानता हूँ।

## शरीर—श्रम ।

इसी में शरीर श्रम आ जाता है। मनुष्य अपने श्रम से थोड़ी  
सा ही रोटी कर सकता है। लेकिन अगर लाखों वष समीन के  
दो चार ही मानिक दावाते हैं तो बाकी क सब मजदूर हो जाते हैं।  
यह बगैर दिसा क नहीं हो सकता। अगर आप कहेंगे कि ये मजदूर  
नहीं गलत यत्रों से काम लेंगे तो भी दिसा आ ही जाती है। इसके  
पास एक लाख बापा जमीन पड़ा है उस पर मुमक़्त आ ही जाता  
ह कि मैं इतना जमीन का मानिक हूँ। धरे २ उसमें दूसरों पर सत्ता  
बापम करने का लाजब आ जाता है। यत्रों की मदद से वह दूर ९  
क लागों का भी गुलाम बना लेता है और उन्हें इसका पता भी नहीं  
जाता कि वे गुलाम हो रहे हैं। गुलाम बनाने का एक स्वयंभूत तरीका  
इहाने दूना लिया है। जस काट है एक कारखाना बना कर बैठ गया  
है। च द आत्मी उनके यत्र काम करते हैं। लागों को प्रलोभन देता  
है विधापन निकालता है दिसक प्रवृत्ति का ऐसा मोहक रास्ता निकाल  
लिया है कि हम उसमें जाकर पस जाते हैं। हमें इन बातों पर विचार  
करना है कि क्या हम उसमें पसना चाहते हैं? या उस से बचा रहना  
चाहते हैं।"

## मेरा विशेष दावा ।

अगर हम अपनी अहिंसा का अविशिष्ट रखना चाहते हैं और सारे समाज का अन्तिक बनाना चाहते हैं तो हमें उसका रास्ता ढाँटना होगा । मेरा तो यह गवा रहा है कि सत्य, अहिंसा आदि जो धर्म हैं वे ऋषि मुनियों के लिये नहीं हैं । पुराने लोग मानते हैं कि मनु ने का धर्म बतलाए हैं वे ऋषि मुनियों के लिये हैं । व्यवहारी मनुष्यों के लिये नहीं हैं । मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है । मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है वह विष्ट भी है और ब्रह्माण्ड भी । वह अपने ब्रह्माण्ड का भोक्त अपने कर्मा पर लिये निरता है । जो धर्म व्यक्ति के साथ व्यवहार हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है मेरा यह दावा है कि अहिंसा सामाजिक चीज है केवल व्यक्तिगत धर्म नहीं है । मेरा यह दावा है कि तारा समाज अहिंसा का पालन कर सकता है । मैंने इसी विधान पर चलने की कोशिश की और मैं मानता हूँ कि मुझ उसमें निरालता नहीं मिली ।

## अहिंसा समाज का प्राण है ।

“ मेरे लिये अहिंसा समाज के प्राण के समान चीज है वह सामाजिक धर्म है, व्यक्ति के साथ व्यवहार होने वाला नहीं है । पशु और मनुष्य में यही तो भेद है । पशु को ज्ञान नहीं है मनुष्य को है । इसलिये अहिंसा उसको विशेषता है । वह समाज के लिये भी मुलभ होनी चाहिये । समाज उसी के बल पर ठिका है । किसी समाज में उसका विकास कम हुआ है किसी में अधिक विकास हुआ है । लेकिन एक बिना समाज नहीं ठिक सकता ।” महात्मा जी ने अहिंसा धर्म का किस रूप में सतार के सामने रक्खा, किस प्रकार से उसका पालन स्वयं करते थे और किस प्रकार से अहिंसा का पालन हमारे से

चाहते थे वह उपर्युक्त अहिंसा पर प्रकट क्रोध गए उनके विचारों से पाठक भली भाँति समझ गए होंगे । वे अहिंसा धर्म का समाज का अङ्ग समझते थे । और कहते थे कि समाज इनके बिना ठीक नहीं चलता । महात्मा जी कहा करते थे कि शम्भुधारी पुरुष बीरता में अहिंसक व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता । शम्भुधारी य त्रिये ता शस्त्र का सहारा चाहिये और उससे बिना वह अपने आरका निपल अनुभव करता है । यही कारण है कि नि शस्त्र शाकर वह शत्रु के सामने कायरता दिखाता है । शम्भु व बिना वह अशक्त हो जाता है । अहिंसा धर्म अशक्तों का शस्त्र नहीं है, वह ता शक्तों का शस्त्र है । इसका पालन निपल लाग नहीं कर सकत । अहिंसा के विषय में ठीक यही मन्तव्य जैन धर्म का भी है । जैन धर्म भी अहिंसा का बीरधर्म मानता है ।

**हिंसा-अहिंसा विषयक बौद्ध दृष्टिकोण ।**

जैनधर्म के समान बुद्ध धर्म की भी नींव ता 'अहिंसा परमा धर्म' पर ही रखी गई थी और महात्मा बुद्ध ने भी भगवान् महावीर स्वामी की तरह वैदिकी हिंसा का विरोध किया । वास्तव में ऐसा था तो बुद्ध का वैदिकी हिंसा व विरुद्ध आन्दोलन ही बुद्ध धर्म को पापक रूप से बैलाने का कारण बना । अहिंसा के विरोध से महात्मा बुद्ध की बड़ी सफलता मिली । वह समय ऐसा था कि हिंसा बहुत बनी हुई थी । यश के नाम पर वशु बलि आम हागई थी । श्रवचारी से तग आद भारतीय समाज किसी मुषास्व की ताक म थी । ऐसे समय में महात्मा बुद्ध की आवाज लोगों को ग्रीष्म के पंथात् सर्पा के समान लगा । सब लोग उनके उपदेशों से आकर्षित हुए और अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ । कि तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि बुद्ध के बाद उनके अनुयायी पापक रूप में हिंसा में प्रवृत्त हुए और मार्गहारी बने ।

[ धार्मिक व अर्थ देशों व समान बौद्ध देशों में भी आज आमिषाहार  
 धार्मिक रूप में किया जाता है। सबसे बड़ा आश्चर्य हमें इस बात से  
 होता है कि बौद्ध भिक्षुओं तथा अर्थ मूर्खों में भी यत्र तत्र आमिषाहार  
 के विधान के प्रकरण मिलते हैं। एक सूत्र\* में लिखा है कि महात्मा  
 बुद्ध ने एक पुरुष से भिक्षा में मूत्र का माँग प्रहण किया उसका  
 ज्ञान से जनक पद में शून्य पैदा हुआ और उसी शून्य कारण  
 उनकी मृत्यु हुई। उसी प्रकार अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी बौद्ध भिक्षुओं  
 के लिये ऐसे आमिषाहार प्रहण करने की आज्ञा दी गई है जो उनके  
 निमित्त से न पनाया गया हो। हिंसा विरोधी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में  
 इस प्रकार के मोक्षार्थक विधान मिलना एक बड़ी विचित्र बात  
 है। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल के उदाहरण होने के कारण इनको  
 प्रमाण भी नहीं माना जा सकता। आजकल भी वे बौद्धधर्मावलम्बी  
 ध्यायक रूप में आमिषाहार करते हैं उनकी अपने धर्म के प्रतिष्ठा  
 ज्ञान के दावी नहीं उड़ाया जा सकता क्योंकि बौद्ध धर्म ग्रन्थों में  
 आमिषाहार का विधान है। अतः हम इन निष्पत्ति पर पहुँच सकते हैं  
 कि बौद्ध धर्म सबसे पहले अपनी उ मभूमि भारतवर्ष में ही पैदा हुआ  
 और पलने पलने के लिये भी इसका वैदिक-क्षेत्र मित्रा को ध्यायक  
 रूप से आमिषाहार में प्रवृत्त था। वैदिक लोग वसुधि बौद्ध धर्मावलम्बी  
 हो गए थे किन्तु एक दम वे आमिषाहार का त्याग नहीं कर सका और  
 बौद्ध होने के बाद भी वे उसका मवन करने लगे और उन्होंने ही  
 आमिषाहार परक पाठों का बौद्ध ग्रन्थों में स्थान दिया। किन्तु यह  
 निष्पत्ति भी कोई विशेष सन्तुष्टिकरक प्रतीत नहीं होता। यदि उपर्युक्त  
 निष्पत्ति मान ली जाय तो एक उदाहरण हमारे सामने पड़ जाता  
 है कि महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन काल में आमिषाहारक मूत्रा के  
 पात्रों की ओर उनके प्रचारकों की उपेक्षा क्या की? क्या गौतम

कल्याण अर्थात् धन की शरण में उतर ही हो सकेगा। अर्थात् धन का सन्ने पड़ा महाभय या उपदेश है 'आत्मवत् सर्वभूतानु' अर्थात् सत्त्व में सबका अपने समान समझो। जैसा व्याहार तुम दूसरी से अपने प्रति चाहते हो वैसा ही दूसरों से भी करो। यदि इस महान् उपदेश के सत्त्व को सत्त्व के लोग समझे होने और उन्होंने इस पर अमल किया होता तो सत्त्व में बड़े २ मुद्दों का नृनान् न हुआ होता। गत ही महाभयों में मानव जाति का बहुत बड़ी सत्त्व में संहार हुआ। इन संहार का मुख्य कारण था हिंसा अर्थात् क्रिस्ते द्वारा बलवान् राष्ट्र निबल राष्ट्र को बहुर कर जाना चाहता था। उसी प्रकार की प्रवृत्ति वर्तमान समय में भी अनेक राष्ट्रों में दृष्टिगोचर होती है। बलवान् राष्ट्र निबल राष्ट्रों का रण जाना चाहते हैं और सत्त्व २ की धमकियाँ से डरते डरते हैं। सारे विश्व में बड़े २ नेताओं और वैज्ञानिकों का मुद्दाव तृतीय महायुद्ध की ओर आ रहा है। बड़े २ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क भी विज्ञानियों इस प्रकार की लाल में लग हुए हैं कि किस प्रकार अणु से बन्नी काइ ऐन आविष्कार हो सके क्रिस्ते द्वारा योमातिशय मानव जाति का संहार हो जाये। परमाणु बम और हाइड्रोजन बम जैसे भयानक और घातक आविष्कारों में भी उनकी सहाय नहीं हो रहा। वैज्ञानिकों के मस्तिष्क की बड़े अलौकिक शक्ति का मानव जाति के उत्थान और निमाण में लगनी चाहिये यी दुभाग्यवश हमारे महार में लगी हुई है। कितनी गिरावट है इस युग की जिसका लाग विकासवात् का युग कहत है। अपने ही संहार के लिये प्रवृत्त होना ही क्या विकासवाद के युग का लक्षण है। या हिंसा के गत को और करना ही विकासवात् की निशानी है। यदि इसी प्रकार की मानवसमान की मनावृत्ति उत्थातर पवन की ओर ही घटती गत तो मानवजाति का एक बहुत बड़े संहार में से गुजरना पड़ेगा।

जिसकी कल्पना से भी गिला दहल उठता है। उस सहज से प्रचनेत्र  
 लिये मानवजाति को चाहिये कि वह अहिंसा धर्म की राश ले और  
 भौतिकवाद के आध्यात्मिकता का ही सप जुछ न समझे। आत्र का युग  
 आध्यात्मिक रूप से भौतिकवाद की ओर जा रहा है और आध्यात्मिक  
 तत्व की उपजा की जा रही है। यही कारण है कि विश्व के किसी कोने  
 में भी मानसिक या आध्यात्मिक शान्ति नहीं है। मनुष्य ने यह २ महान-  
 प्रद आविष्कार करके प्रकृति पर विजय पाई है। उसने बड़े आध्ययनक  
 प्रयत्न किये हैं कि मु भौतिकवाद की इस उद्यति से वह आत्मिक  
 शान्ति नहीं प्राप्त कर सका है। उल्टा वह उससे बहुत दूर चला गया  
 है। आत्मिक और मानसिक शान्ति के लिये आध्यात्मिकवाद के रहस्य  
 को समझने की आवश्यकता है जिसकी भौतिकवाद उपजा करता है।  
 आध्यात्मिकवाद का सबसे बड़ा आदेश है आत्मिक और मानसिक  
 शान्ति और यदि जीवन उससे वंचित है तो भले ही कितनी ही सम्पत्ति  
 और ऐश्वर्य के साधन मनुष्य के पास हों वे सब निरर्थक हैं। एक  
 अर्चिचन पुरुष भी जिसका जीवन शान्तिपूर्ण है उस अनेक वैज्ञानिक  
 साधनों का युक्त समृद्ध-पुरुष से जाग्र दने अच्छा है जो विपुल रहता  
 है और जिसकी चिन्ता के मारे निद्रा तक दुलभ होती है। आत्र का  
 युग भी शान्ति से वंचित है उसका मुख्य कारण भौतिकवाद का  
 अधिक विकास और उसकी और प्रवृत्ति है। यही कारण है कि हमारे  
 पूर्वज महर्षियों ने भौतिकवाद की उपजा करके अहिंसात्मक आध्या-  
 मिकवाद का संदेश मानवजाति को दिया और कहा कि यदि कल्पाण  
 चाहते हो तो समस्त रत्नों और सब प्राणियों को शान्तिपूर्ण जीवन  
 व्यतीत करने दो। उन्होंने कहा कि विश्व की व्यवस्था को समीचीन  
 प्रकार से चलाने के लिये अहिंसा धर्म का पालन परमावश्यक है।



अहिमा धम की शरण लेकर ॥ विश्व युद्धों की पुनरावृत्ति रुक गवने  
 है और सभार से अगति के गदव दूर हट सकने हैं । अहिमा धम  
 की शरण लेकर ही मानवजाति मुव आर शान्ति की नीद हो सकने  
 है । अतएव विश्व के सर रात्रों का कल्प है कि ये स्वाय युद्धि साइक  
 मानवता के वास्तविक सत्य अहिमा धम को समझे आर उसका पालन  
 करें । 'अहिमा धम के पानन स ही विश्व का कल्याण हागा ।



# अनेकान्तवाद

१४३

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की अपनी विभूति है और जैन दर्शन की एक विशेषता है। आचार्य असूनचन्द्र ने तो अनेक तत्त्व का जैन गम का जीव या जीव मत बताया है। वे कहते हैं कि त्रिम प्रकार जीव के बिना सतक शरीर किमा काम का नहीं होता। इसी प्रकार अनेकान्तवाद के बिना जैन गम भी संभव नहीं निरर्थक और निष्कार है। यही कारण है कि जैन धर्म या जैन दर्शन का जो महत्व है वह अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के कारण ही है। अनेकान्तवाद एक महान् दर्शन है। यह ऐसा दर्शन है जो नकार के अथ दर्शनों के सैद्धान्तिक कलह को मिटाकर उन में समन्वय कराता है। और उन के जीवन को पूर्ण और सत्य भाग की ओर प्रेरित करता है। सत्ता में ध्वान्तरूप से ऐसी हुई असदिष्टताओं का मूल कारण साम्प्रदायिक रोग है और अनेकान्तवाद उस रोग की निवृत्ति के लिये अमोघ औषध है। दूसरे की अशुद्धि से अशुद्धि बात को या मिद्वान्त को भी मुक्त बताया और अपने सार्वम तत्त्व का भी समर्थन करना, इस बातोंवरण की बनना साम्प्रदायिकता है। उदारता और विशालता साम्प्रदायिकता के पास तक नहीं पटकती। वह कटुता और विद्वेष फैलाती है। उस कटुता और विद्वेष का दूर करने अनेकान्तवाद माधुर्य और मैत्री का संचार करता है। अनेकान्तवाद का सर्व, साम्प्रदायवाद, मतान्वयता या धर्मान्वयता के अंधकार को दूर कर सत्ता को सुन्दर ज्योति का प्रकाश देता है। यह सत्य असत्य और असत्य कहने वालों के भ्रम का निवारण,

हे और बारी प्रतिपादितों के शास्त्रीय कलह का मिटाने के लिये ऐसी व्यवस्था देता है जो दोनों को मायवा है। अनेकान्तवाद की पुनर्विद्य सत्य पर टिकी हुई है। इस कारण वैदिक निष्पक्ष व्यवस्था का स्थापन करता रहा है। इसी महानता के कारण अनेकान्तवाद में सत्ता के अन्य दर्शनों में उच्च स्थान प्राप्त किया है।

### अन्य दर्शनों पर प्रभाव ।

भारत के अन्य दर्शन वैदिक और बौद्ध भी अनेकान्तवाद से बहुत प्रभावित हुए। वैदिक और बौद्ध धर्मों के दार्शनिक प्रयोगों में अनेकान्त दर्शन की मायवा का उदाहरण बहुत मिलते हैं। निष्पक्ष वैदिक धर्म के कुछ दार्शनिक विद्वानों ने अनेकान्त सिद्धांत का समय पर खण्डन भी किया किन्तु वैदिक दर्शन इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। बौद्ध सिद्धांत पर भी अनेकान्त सिद्धांत का बहुत प्रभाव पड़ा। दुर्भाग्यवश बहुत से कट्टर पंडितों ने इसका खण्डन किया जिसका परिणाम यह हुआ कि दिन प्रतिदिन धर्मांधता बढ़ गई और धर्मनिरपेक्षता का वातावरण फैलता गया। यदि अनेकान्तवाद समन्वय और शांति के संदेश का संचार ने सुना होता तो उस हातहास और हाथपार से लिखा होता।

### जीवन में धर्म की प्रधानता ।

मानवजाति के इतिहास से पता चलता है कि हमारे पूर्वजों रहलौकिक और पारलौकिक चीजों के सुख और शान्ति के लिए धर्म को ही प्रधान स्थान दिया था। सत्कार-सागर को पार करने के लिये वे एकमात्र धर्म को ही तरणी समझते थे। मानव-जीवन अमानक आशयों और पार कष्टों का अन्त उड़ाने धर्म में ही

आदर्श-जीवन की बुनियाद माँ उँहोंने धर्म पर ही रखी और  
 ऐश्वर्य-रथों से मुक्ति का मार्ग भी उँहोंने धर्म को ही बताया।  
 अपने सारे जीवन का क्रियाकलाप में उँहोंने प्रधान स्थान धर्म को दिया  
 और उस के पालन करने का नियम सर्वत्र तक अन्विष्ट करने की  
 शिष्टा दी। वे भगवान् से यहाँ तक प्रायश्चित्त किया करते थे कि  
 परमात्मा धन गौतम भले ही शर्म लेले परमात्मा भले ही उन के  
 प्राण बँदी ही लेले किन्तु उन का बुद्धि धर्म से कभी विमुख न हो।  
 धर्म से विमुख होने की अपेक्षा वे मृत्यु और अधिक अस्वास्थ्य समझते थे।  
 धर्म रहित जीवन की उँहोंने पाश्चात्य जीवन से तुलना की। पूर्णरूप  
 से धार्मिक जीवन पालन करने वाले को उँहोंने परमात्मा तक की  
 उपरि से अलङ्कृत किया। मार्गश यन्त्र कि हमारे पूर्वजों ने धर्म का  
 सर्वोपरि स्थान दिया।

## ॥ धर्म के नाम पर ॥

अब प्रश्न यह है कि क्या धर्म धर्म की कसौटी पर परितः कर  
 प्रतीति और साधकता को प्रकट कर सका? जिस महती भद्रा -  
 और प्रेम से मानव ने धर्म की पूजा की थी क्या धर्म ने उस का उत्तर  
 का उत्तर ही देना दिया? क्या वास्तव में धर्म ने मानव जीवन को  
 आनन्द बनाया? क्या वास्तव में धर्म ने सत्कार को सम्पूर्ण ग्लानि  
 उत्तर का कल्याण किया? क्या सत्कार का लाभ धर्म का पालन करके  
 भवान् आपत्तियों और धार कष्टों से मुक्ति पासके? क्या मानव में  
 मानव ने धर्म की तरफ पर बैठकर सत्कार सागर को पार किया? क्या  
 धर्म का पालन करने से मानव वास्तव में परमात्मा को प्राप्त हुआ?  
 सत्कार का इतिहास इन सब प्रश्नों का उत्तर निवेदन में ही देना है।  
 योरोप और अशिया सत्कार में सर्वत्र धर्म के नाम पर बड़े २ युद्ध हुए

जिन में अत्यन्त निरपराध प्राणिमार्ग का रक्षण हुआ। यारोप की  
 इन्क्वीजिशन और स्टार चैम्बर न्यायालय नाम की दो धार्मिक अंग-  
 लता में आसामोरकारी नुषट्नाए हुईं उन का फल करहुँप मूल  
 उगता है। इन दास धार्मिक न्यायालयों में धर्म के नाम पर अनेकों  
 निरपराध प्राणियों के निरसक्यों से काट दिये जाते थे। और  
 बहुतों का त्रिदा ही अंग में अला दिया जाता था। केवल इन  
 दो धार्मिक अदालतों में ही धर्म के नाम पर एक करोड़ निरपराध  
 प्राणियों का मृत्यु का दण्ड मिला। इसी प्रकार भारत में  
 औरहुँप की धमाकता को लागू अनी नरु नहीं भूत हैं। सत्तार में  
 धर्म के नाम पर हुरद का कवाने वाली सरकारें लोगों को दास  
 किया पर अत्याचार किए गए और अत्याचारियों का सत्तार के  
 पाद उतारा गया। धर्म के नाम पर मानव ने ऐसे २ मोर पाए किये  
 जिन की ममानता राष्ट्रों और पशुओं से भी नहीं की जा सकती।  
 यमका सदी वैज्ञानिक युग है। इस का विकासवाद का युग भी कहा  
 जाता है। इसका मानव बढ़ा सम्ब और उन्नत माना जाता है किन्तु  
 अपने भी धर्म की दृष्टि देखें तो २ अत्याचार किये हैं जिन का  
 प्रकट करने भा लाना जानी है। दूर जान की क्या आवश्यकता है।  
 अभी धर्म ममय रहने वन १८४७ में जब भारत का विभाजन हुआ  
 उस समय धमा उठा कि कारण मानव ने मानव पर दो भीषण अत्या-  
 चार किये १ कि। म भूने हैं। धर्म के नाम पर मनुष्य ने अपनी  
 जाति और भण्ड व दुःखालोक पर ऐसे २ धार अत्याचार किये हैं कि  
 यदि उन की पुनरा राखें तो पशु से की जाय तो यह उनका लाञ्छन  
 लगाना होगा। इस प्रकार धर्म के नाम पर हुए अत्याचारों का यदि  
 विचार पूर्वक लिखा जाय तो, एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जाय।  
 अतः यह सब क्यों हुआ ? क्या हम ने मानव जाति को यही कुछ  
 जिन या था ? क्या धर्म का बुनियाद हमारे पूर्वजों ने ही अत्याचारों

पर स्वीकी थी ? क्या धर्म का आविष्कार मानव जाति के सदा के लिये किया गया ? क्या धर्म का प्रधान लक्ष्य समार में पूट डालकर परस्पर बल्लह और अन्याचार करना ही था ? उन सब प्रश्नों का उत्तर भी निरपेक्ष रूप में हो मिलता है । इन प्रश्नों का उत्तर जैनधर्म का अंतःकान्तराद देता है । अनेक तथ्यों का कहना है कि धर्म का उद्देश्य उद्भूत हुआ है । धर्म इतना सिखा देता है और समार का उन्नति पथ क आर ने जाता है । धर्म पूट नहीं किन्तु मगज्ज और शांतिक संदेश का प्रचार करता है । किन्तु समझने वालों ने उस को ठीक स्वरूप नहीं समझा । उन्होंने उसे सज्जत समझा और उस मगज्ज समझने का परिणाम यह हुआ कि समार में धर्म के नाम पर अनेक उरगात और अन्याचार हुए । धर्म का नाम उनाम हुआ । अतः समार में जो अत्यन्त दुष्ट ने धर्म का समझने वालों की अज्ञानता के कारण हुए धर्म का हम से कोई क्षण नहीं था । धर्म की नांव तो मत्स्य पर ही स्वीकी गई थी और उस का आविष्कार मानव जाति के कल्याण और सुखशांति के लिये ही किया गया । धर्म का प्रधान लक्ष्य समार से बल्लह और वैमनस्य मिटाकर मगज्ज का सा प्रचार करना रहा है किन्तु समझने वालों ने धर्म के पूर्णस्वरूप को न समझ कर उभय-उपकांत स्वरूप को समझा और जो के कारण निम्न धर्मों में कलह का बीजाधारण हुआ । उदाहरण के लिये जैन साहित्य में एक कदवी आती है जो इसी पवित्र है ।

१. किशो देहात में हो अर्धे पुरुष रहते थे । उन्होंने कभी दायी नहीं देवा था । एक दिन अकस्मात् कोई धनी पुरुष दायी पर चढ़कर उस देहात में आया । यह समाचार उन सब अर्थियों को मिला । उन्हें दायी देने की बड़ी उत्कण्ठा हुई और वे उस देवने को गए । अर्ध ने ... की पूट को पकड़ा । दूसरे ने दायी का

हाथ परा। तमरे ने नमक पट पर हाथ चलाया। जीव ने हाथी के कान का पकड़ा। पानवे का हाथ हाथी के दात पर ला पड़ा और छत्र ने उसकी मूठ पर जा हास परा। इस प्रकार वे छत्र अपने पुष्प हाथी का दगमर अपने घर लौट आए। सायकाल जब वे मर इच्छा में बैठे तो हाथी का वणन करने लगे। त्रिमने रेवला पूछ का छुआ था उसने हाथी का रस्मे के समान उठाया। त्रिमने टांग का पकड़ा था उसने हाथी का खम्भे के समान बताया। त्रिमने हाथी के पट पर हास परा था उसने उस एक बड़े घड़े के समान बताया। त्रिमने कज्ज कान का छुआ था उसने हाथी का बड़े मूर के समान वणन किया। त्रिम ने उड़ा हाथी का दात पकड़ा था उसने उसे भींग के समान बताया। त्रिम ने हाथी के मूठ का स्पर्श किया था उसने हाथी का मूलन जैसा वणन किया। इस प्रकार सब ने हाथी का भिन्न २ स्वरूप वणन किया। और अनेक ममके स्वरूप को स्वरूप जान कर वे आश्रम में भगवत लगे। उन में से प्रत्येक अर्था और दार श्रम में अपने अपने हस्ति के स्वरूप की ही गुण करता था। इतने में आश्रमों वाला एक पुष्प वहाँ से गुजरा। वह उन के भगवत के मूल कारण को समझ गया और उसने उन से कहा कि तुम यथ म हा आश्रम में भगवत रहे हो। अतः त के सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में तुम समा सचे हो। तुम में से किसी ने भी सपूर्ण हाथी को नहीं देगा किन्तु उस के भिन्न २ अंगों का देना है और तुम उन भिन्न अंगों का ही हाथी समझ बैठे हो। तुम्हारी हर एक की बात उस अंग की अपेक्षा जो उसने देगा है सच्ची है। पूछ ली अपेक्षा हाथी रस्मे के समान, टांग की अपेक्षा खम्भ के समान, पट की अपेक्षा घड़े के समान, कान की अपेक्षा मूर के समान, दात की अपेक्षा भींग के समान, और मूठ की अपेक्षा मूलन के समान कहला सकता है किन्तु एका त हस्ति का हाथी को रस्मे या खम्भ के समान समझना अज्ञानता है।

इस कथानुसार में अनेका तमाद का सार आता है। हम म  
यद भी मनीमौलि शरद है कि किसी भी धर्म का यदि हम एक ल दृष्टि  
र देखेंगे तो हमें उस क मुख्य स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। अनेक  
धर्म का ज्ञान मुख्य रूप से करने क निव अनेक त दृष्टि की आवश्यकता  
है और अनेकान दृष्टि अनेक त दशन क ज्ञान न हो मिल  
सकता है।

## ॥ एक ही उम्बु में दो विरोधी धर्म ॥

अनेकानुवाद क प्रतिपक्षिया ने यह कह कर कि एक ही उम्बु  
में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते अनकान्तवा का प्रत्याखान करने  
का प्रयत्न किया किन्तु वे इस में सफल नहीं हो सके। हम देखते हैं  
कि सार के सारे पदाव अनेकानुवाद या अनक धर्मात्मक हैं।  
सागरदत्त नाम का एक ही पुत्र किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी  
का पति, किसी का मामा और किसी का नाना आदि शाना है।  
किस समय पुत्र के द्वारा उस का पिता कह कर पुकारा जाता है उस  
समय वह अथ पुत्र, पति, मामा, और नाना आदि अनक विरुद्ध  
धर्मों को भी धारण करता है इससे यह स्पष्ट है कि वह अनक विरुद्ध  
कार्यों के अस्तित्व का स्वतः हुए अनक धर्मात्मक है। सागरदत्त न  
केवल पिता ही है, न केवल पुत्र ही है और न केवल पति ही है  
किन्तु भिन्न २ अपवा से वह सब कुछ है। दार्शनिक विद्वान् माननीय  
१० माणिक चन्द्र जी ने अनेकानुवाद का विश्लेषण यह ही सुंदर  
और शरद शब्दों में इस प्रकार किया है—

“सयोग सग्रे म से पवत में अग्नि है किन्तु निवृत्त सम्य ध से

दशन का म्यादा. १५ पृष्ठ ११०।



अग्नि मयी पश्य ठहरता है। स्वनिष्ठ विपयिता निम्नित विपयता सम्बन्ध से अथ म ज्ञाने निबान करना है साथ ही स्वनिष्ठ विपयिता निम्नित विपयिता सम्बन्ध से ज्ञान म अथ ठहर जाता है। अथत्व सम्बन्ध से अथ का पात्र है। उसी समय अनकत्व सम्बन्ध से ज्ञान का बग है। सम्बन्ध सम्बन्ध से ज्ञानियों वृद्ध है, तदैव समवेतत्व सम्बन्ध से ज्ञान म ज्ञानिया है।

या धर्माका धर्म बन जाना और धर्म का धर्मा बन जाना जैन दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कोई विरोध नहीं रखता है। अग्नि में तापकत्व, पाचकत्व, स्वादकत्व, शोषकत्व प्रसाधकत्व धर्मों के साथ ही शैत्यसम्पादकत्व धर्म भी है। अग्नि से भूरसे हर्ष का अग्नि से ही सदा जाता है। 'विपश्य विपयामग्ने' गर्मी का इलाज गर्मी ही है। जल से भी बने रहता पात्र में चोगना दाढ़ बन जाता है। जल से समारोह का दृक्क २ में गर्मी घुना हुई है, समुद्र में बह्मचरित है।"

इससे पाठका का भली भाँति स्पष्ट होना कि विरोधी धर्म एक स्थान में रह सकते और रहते हैं। समार के सब पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं अतः उनका अनेक-तत्वाद की दृष्टि से देखना ही अनेकतत्वाद का सार है। इसी अनेक तत्वाद का स्थापना भी कहते हैं। 'स्थाप' शब्द का अर्थ है 'कथयितुं' या किसी की अपेक्षा से। इसलिये बहुत से लोग अनेक तत्वात् को कथयित्वाद और अपेक्षावाद के नामों से भी पुकारते हैं किन्तु सिद्धान्त वास्तव में एक ही है।

## सप्त भगी ।

इसी स्थापना का जैन दर्शन में सप्तभगी के रूप में वर्णन किया है। वस्तु और उसका प्रत्येक धर्म का विधान और निषेध सापेक्ष होने के कारण वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से किया जा सकता है। जैसे—

- (१) स्वास्ति— कथञ्चित् है।  
 ( ) स्वात् नास्ति— नहीं है।  
 (३) स्वादस्ति नास्ति— है और नहीं है।  
 (४) स्वादवत्त्वम्— अवाच्य है।  
 (५) स्वादस्ति अवत्त्वम् च— है और अवाच्य है।  
 (६) स्वात्तास्ति अवत्त्वम् च— नहीं है और अवाच्य है।  
 (७) स्वास्ति नास्ति, अवत्त्वम् च— कथञ्चित् है, नहीं है और अवाच्य है।

इन सातों प्रकार के मूलों को समझनी पड़ता जाता है। इन सातों वाक्यों का मूल विधि और प्रतियोग है इन कारण बहुत से विद्वान् इसकी विविध प्रतियोग मूलक पद्धति के नाम से भी पुकारते हैं। इस प्रकार यह समझनी जैन दर्शन की ही अपनी विशेषता है। भारत के अन्य किसी भी दर्शन में इस प्रकार का व्यवस्था समझनी का षण्ण नहीं मिलता। ही वैदिक दर्शन में भूत् अमृत् उभय और अग्निधवन य भगा का षण्ण मिलता है त्रिनम जैनदर्शन के मूल पक्षों पुष्टि होती है। बौद्ध धर्म भी अनेकान्त दर्शन से बहुत प्रभावित रहा है। जैन दर्शन में चतुर्विध के नाम से प्रसिद्ध हो स्त्, असत्, उभय और अनुभय का षण्ण तत्र षण्ण मिलता है यह इस सत्य का पापक है। समझनी का षण्ण करते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् प० वैलाश्वर्य जी शास्त्री लिखते हैं कि —

“अथ\* हम किसी वस्तु का स्त् कहते हैं तो हमें यह स्थान रखना चाहिये कि उस वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से ही उसे स्त् कहा जा सकता है। पर वस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से इतिहास

पत्येक वस्तु अमृत है। देवन्त का पुत्र दुनिया भर के मनुष्यों का पुत्र ही है और न देवन्त सगार भर के पुत्र का पिता है। यदि देवन्त अरने को सगार भर के पुत्र का पिता करने लगता तब पर वह मार पड़ जो जीवन भर भुसाए से भी न भूले। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते हैं कि देवदत्त पिता है नहीं भी है। अतः सगार में जो कुछ 'है' वह किमा अपद्धा से नहीं भी है। सवया सत् या सवया अमृत का वस्तु ही नहीं सकती। इसी अपद्धावा का सूचक स्यात् शब्द है जिस त्रैलोक्यज्ञान अपने बचन व्यवहार में प्रयुक्त करता है। इसी का दार्शनिक भाषा में स्यात् सत् और स्यात् अमृत कहा जाता है।

शब्द ही प्रवृत्ति बना के अधीन है अतः प्रत्येक वस्तु में दोनो धर्मों का रहन पर भी धर्म। अरने २ दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करता है। जैसे दो आदमी सामान खरीदने के लिये बाजार जाने हैं वहा किता वस्तु का एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दाना में बात यह आती है तब दुकानदार या कोई राहगीर उन्हें समझाते हुए कहता है—भाद ! क्या भगदत है ! यह चीज अच्छी भी है और बुरी भी है। तुम्हारे लिये अच्छी है और इनके लिये बुरी है। अपनी २ निगाह ही ता है। ये तीनों व्यक्ति तीन तरह का बचन व्यवहार करते हैं—गहना बिधि कहता है, दूसरा निषेध और तीसरा दोनों।

बन्धु ने उक्त दानों धर्मों का यदि कोई एक साथ कहने का प्रयत्न करे तो वह कभी भी नहीं कह सकता। क्योंकि शब्द एक समय में एक ही धर्म का बचन कर सकता है। ऐसी दशा में बन्धु अवाच्य कहा जाता है। उक्त चार बचन व्यवहार का दार्शनिक भाषा में

“शान् मन्” “स्यान् असत्”, “श्यन् मद् मद्”, और स्वादवत्त्व कहते हैं। समन्वय के मूल यही चार भग हैं। इन हा म से उतुध भग का माय कमल पहल दूसरे और तत्पर भग को मिचाने से जानवा, यदा और सानवा भग बनता है।”

## समन्वय ।

मैं पठवा था यता रहा था कि अनका तवा, १ समार का पारस्परिक प्रेम और लपि का म प्रेश दिया है। अब कभी अन्य धर्मों के अनुयायी अपनी अपनी एकता इति म किमी शान्वाय मिठा त पर मगदे है ता अनेकान्तवाद उनकी मुगद करता रहा है। वह म्दा से म्ग कहता आया है कि एका तवाद म वस्तु तत्व का म्ग निम्नण नहीं हो सकता। उपाग्रण कलिष वम् को लीत्रिये। भीटदशन व ‘सर्वे मणिक मत्वान्’ इन प्रगम नियम के अनुसार ‘वम्’ म्ग लणिक टहरता है। भीटदशन व म्गवा दिगीन माग्र ० न उमा वम् का म्गवा अदितागी और निर भावता है। इन म्गना व रिच का निम्न किम प्रकार हा। त्म समय म अनेकान्तवाद का मिडान् ही म्गना व दिवा की मुक्ति का समाधान कर म्गना से म्गि करवाता है। वह येना निम्न निम्न दगा है वा दाना का माय हा।

अनेकान्त म्ग दिये स म्ग व्यवस्था करता है। पहली द्य द्यि है वा वस्तु को निम्न सिद्ध करती है। द्य का कभी नाश नहीं होता। दूसरी पथाव द्यि है वा उस अनित्य बनाती है। पथाव द्यि से खव हम वल की और ध्यान देत है ता प्ग चनता है कि वदा वम् वा कुछ काल, द्य नवीन माना जाता था उसाचर बीग अवम्

पुराना कम्लाने लगता है। जाद भी वस्तु वम्,

जाता है ता उसका जीवितना एक ही दिन व परिवर्तन का परिणाम नहीं होता कि तुम्हें समझ से वह वस्तु प्रतिकूल चीज होती रहती है जिनका हमें पता नहीं चल पाता । अब वह पुरुष से जाण होजाती है तब हम उसे चतु इन्द्रिय से देख पाते हैं । अतएव पञ्चाय दृष्टि से विचार करने पर रोडों का वस्त्र को खण्डित मानने का मतलब ठीक सिद्ध होता है ।

उसी वस्त्र का अब हम द्रव्य की दृष्टि से देखने हैं ता उसे अविनाशी पाते हैं । जिन परमाणुओं से वह वस्त्र बना है व नाशवान् नहीं है । उनका आकार में परिवर्तन भला ही होता रहे किन्तु द्रव्य का नाश कभी नहीं होता । इस कारण द्रव्य दृष्टि में वही वस्त्र निरन्तर रहता है वा पञ्चाय की दृष्टि से अनित्य वा । इस प्रकार नित्य और अनित्य दोनों धर्म वस्त्र पर वस्तु व प्रत्यक्ष हैं । पुरुष वस्तु नित्यानित्य समक है । इस प्रकार जैन धर्म ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से बौद्ध और सात्त्विकानुधाधिका के विरोध को शांत कर दिया और निरन्तर व्यवस्था में आदमियों का मन हो ।

इस तरह अनेकान्तवाद अपना निरन्तर निर्णय देकर अथ वधों व सैद्धांतिक कलह का मित्रता रहा है । अन्य धर्मों में सम्भव कहाना अनेक उदा का उद्भव रहा है । यदि समार ने अनेकान्तवाद व सिद्धान्त को भली भाँति समझा होता और उसका पालन किया होता तो समार का इतिहास धर्म व नाम पर होने वाले भयानक रक्तपात और और अत्याचारों से कभी दूषित न होता । आजकल भी जो धर्म व नाम पर अनेकवाद विवाद और कलह होते रहते हैं उनका अन्त ही अनेकान्त दर्शन की शरणा में आकर ही हो सकता है । अनेकान्तवाद समार का गान्ति और प्रेम का संदेश देता है ।

## स्वाढाढ के वर्त्तमान अनुयायी ।

यह तो हुआ समार न अनि म्यादा का स देश और ठगोण ।  
 अब देखना यह है कि किस धर्म का यह दर्शन है उस के वर्त्तमान  
 अनुयायियों ने इस को किस प्रकार समझा है ? क्या वे इस का मूल  
 योग और पालन कर रहे हैं ? क्या वर्त्तमान जैन पन्थानुयाय, अनेकान्त  
 वाद के वास्तविक सार और मूल्य का समझते हैं और उस का पालन  
 करते हैं ? क्या जैन समाज न किसी भी सामाजिक या अध्यात्मिक क्षेत्र  
 में कायस्थ से इस सिद्धांत का शरण ली जाती है ? हमारे देश की  
 का उत्तर निराशाजनक हो मिलता है । दूसरों को एक स्वयं ईश्वर के  
 राकने वाले आद्य हम स्वयं एकात्मवादी होने बैठे हैं । हम सबों का  
 समन्वय कराने वाले आद्य हम अपने ही धर्म का समन्वय नहीं कर  
 पाते । सब पूछा तो दूसरी न सामने आने वाले धर्म का समानान  
 वाला ने ही आद्य अपने दर्शन की दुर्गति का दावा है । मूर्खत्व,  
 दिगम्बर, स्थानकवासी तेरहपथी, यति आदि निरुद्ध नीति का अर  
 राने आदि जैन धर्म के अनेक सम्यग्दर्श और गोपनीय किटना भीषण  
 वैमनस्य, विद्वेष और मदुता का रही है । एक ही महात्मा न पुत्र ही  
 दाकर भी सब एक दूसरे का शत्रु समझते हैं । एक शास्त्र का अनुयायी  
 दूसरी शास्त्र वाले का मित्राशी रहते हैं और आद्य न सुधारक  
 विद्वानों और सुनराजों की ऐसी छवि हम दूसरे का निंदा करने में  
 नष्ट होती है । प्रायः एक पक्षात्कार का पक्ष बैठे हैं जिसका परिणाम  
 ही वैमनस्य और द्वेष का बृद्ध करना जाता है । पूरे का एक  
 साम्राज्य है जो दिन प्रतिदिन अन्धकार की गर्दों को लाता जाता  
 है । भगवान् महावीर के मर्म ग्राहक हाते हुए भी  
 जैन धर्म के अविनश्वर नष्ट होते हैं ।

म एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरी सम्प्रदाय के अनुयायी का आशय पानी तक देने को रोकते हैं। मीगदों विवाद जाती हैं और नियम तय करवाए जाते हैं। मूर्तिपूजक की कथा यदि दानकथासी के वशी विवाही जाये तो साम्प्रदायिक भिन्नता के कारण उन कथा में पुण्य व्यवहार न कर कर्माने से नकोच नहीं किया जाता। एक दूसरे का भड़काने वाला व्यवहार करते हैं। एक दूसरे का कथनो ठहराते हैं, बाइकाट करते हैं और जाति से बहिष्कार तय करने में जुन जाते हैं। कदा तक लिखा भाव जैन समाज में आश्रित जितनी फूट है शापद ही आश्रित किसी जाति या धर्म में हागा। क्या यही अनेकान्तवाद की शिक्षा है? क्या इसी प्रकार अनेकान्तवाद का बीजन में उतारा जाता है? क्या यही अनेकान्तवाद का मर्म और सदेश है? क्या अनेकान्तवाद के मत का प्रकट करने का यही उत्तम ढंग है? क्या दूसरी के सामने अनेकान्तवाद के आदेश का प्रकट करने का यही सुन्दर प्रकार है? जितनी लज्जा की जान दे हमारे नित्य कि विध को समन्वय और शान्ति से भरा हुआ अनेकान्तवाद का न देश देन वाले जनधर्म के अनुयायी आश्रित एकांतवादी बने बैठे हैं। जिनका पालन हम स्वयं नहीं कर रहे, दूसरा से उसका पालन करवाने की आशा कैसे कर सकते हैं।

## संगठन की आवश्यकता ।

अब भी समय है और मूर्ख सुधारी जा सकती हैं। सारा संसार आगे बढ़ रहा है और हम पीछे हट रहे हैं। आधुनिक-कितनीक है सचचा हमारी? बहुत थोड़ी है और उसमें भी हमने सम्प्रदाय और श्रम नहीं। इतनी बड़ी फूट! यदि यही दशा और कुछ काल तक चबती रही तो जैन समाज पतन के गत से अब नहीं मोगा। ससार

के गड़े २ राष्ट्र और शक्तियों संगठित हो रही हैं। मनु उन व बिना वर्तमान युग में बड़े २ राष्ट्र भी अपने आप ही मित्र बन पाते हैं। क्या आप भी सहज वाले हम। इतने बड़े विश्व में क्या है हमारी हानि, क्या सोचा आपने। और फिर इतनी शक्ति सत्ता में इतनी उड़ी फूट का भेदभाव। अब छोटे २ सर भेदभावा का मिटाने का समय है। बड़े २ ही न मिलाया गया सा भवानक पतन अवश्यम्भावी है। अब संगठित होने का समय है। मनुजित शक्ति वाचम ही समार में अपनी शक्ति कायम रख सकेंगे। समाज की सारी शक्तियाँ का ध्वज में पारस्परिक मुद्र कलह और नितर्यावाद में लगावा जाती हैं। उन्हें समाज के मुद्दर और सुगुणस्थित निमाण में लगाना चाहिये। तीर्थकर निम्बर में या श्वेताम्बर में। कोई मन्दिर में आकर उनकी पूजा करे, या मूर्तिपूजा का ठीक न समझे, कोई मुन्यस्त्रिका को हाथ में रखे या नभको मुख पर बांध ले, मुन्यस्त्रिका का आकार उड़ा हो या छोटा आदि अनेक साधारण बातों का प्रधानता या मत्त्व देकर उनके लिये कलह या विवाद करने का समय नहीं है। अब आवश्यकता है यह समझने की कि तीर्थङ्करों की माननीयता, जैन सत्प्रति की पानने वाले और अनकातवाद में भ्रष्टा रखने वाले सब जैन समान हैं। जैन ही क्यों, सत्कार का प्रत्येक मानव को उपयुक्त जानने में भ्रष्टा रक्षिता है और उनका पालन करता है वह जैन है। अनेकान्तराद की शरण आकर यदि हम इस प्रकार की विशानता दिखाएँगे सभी हम अपने छोटे हुए मीथ की पाने में समर्थ हो सकेंगे।

## सकुचित वातावरण ।

आजकल जैन समाज में बहुत सकुचित वातावरण फैला हुआ है। अब दो जैन भाई आपस में मिलते हैं, या मरत पहला प्रश्न जो



एक दूसरे से पूछता है यह है — आर कौनसी सम्प्रदाय का मानते हैं ? निम्बरी है, रनेताम्बरी है या तरद पम्बरी है ? इत्यादि यदि दोनों एक ही सम्प्रदाय के निकले तब ना ठीक वरन् उन दोनों का बेबन जैन शाना उनका एक ही प्रमसूत्र में नहीं बाध सकता । यही तब नहीं मर हा सम्प्रदाय के होकर भी यदि दोनों के गुह निघ हुए तो भी वे एक दूसरे से पीठ मराद कर ही चबते हैं । कितना छोटी और छुद बातें हैं वे ! क्या इसी प्रकार के आवरण से जैन समाज का उन्नति पथ पर लाने का सम्भावना की जासकता है ? वर्तमान जैन समाज के प्राय पितने सुगरक और प्रचारक हैं उन सबका ध्यान एकमात्र बाड़े नदिया की ओर लगा हुआ है । सारे जैन समाज का हित किस बात में है इसकी ओर का ध्यान नहीं देता । कोई यह सोचने का कह नहीं करता कि इन बाड़े बन्दियों से सारे जैन समाज का कलेवर खीण होना आ रहा है और उसका बल सारा जैन समाज भुगत रहा है । कोई भी इस एकान्तबद के भीषण परिणाम पर ध्यान नहीं देता । यदि देता होता तो इस प्रकार उत्तरोत्तर गुरुबन्दियों की अभिवृद्धि न हो पाती । इन गुरुबन्दियों के कारण समाज के लाखों रुपये पारश्वरिक भगदों के परिणामभूत मुग्धों का लहने में व्यय किये जाते हैं । इस प्रकार समाज सुधार पर धन की न लगा कर उसका दुहपयोग किया जाता है या दूसरे शब्दों में समाज को बिगाड़ने के लिये धन खर्च किया जाता है । वही धन यदि समाज में शिक्षा प्रचार और साहित्य उन्नति पर खर्च किया जाता तो कितना उपकार और लाभ होता कि तु इन बातों की ओर ध्यान देने की पुरसत किसको मिलती है, भगदों से समय बचे तब न । अस्तु, हमें इन सब बातों को छोड़ना होगा । समाज में सकुचित वातावरण पैदा करने वाली सब शक्तियों का नाश करना परमावश्यक है ऐसा करने से ही हम अनेक तबाद की विशालता की ओर बढ़ सकते हैं ।

स्वतंत्र में मैं अपने भाइयों से यही मायना करूँगा कि यदि वे जैन सभ्यता को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो तब साम्प्रदायिक मतों को और गुरुप्रतिष्ठों का मिटा दें और जैन समाज में संगठन पैदा करके उसकी उन्नति के लिए कटिबद्ध हो जाए। वे छोटी-2-बानी का दुहरा कर मनोत्र के सन्धे सुधार स्लेप में डूबें, अनेकान्तवा का पहले स्वर पालन करें और फिर उसका उद्देश्य पूरक न सकारण दें। जैन समाजवादी आज अपने बम का, अपनी सभ्यता का और अपने देश के भूल गए हैं। वे ना-मय के जेनी रह गए हैं। उनका चाहिये कि वे विश्व का शांति और संगठन का संदेश देने वाले अपने अनेकान्त शास्त्र का समर्थ और उनका जीवन में उतारें। अनेकान्तवाद के पालन से ही सबका कल्याण होगा।



## श्रमण-संस्कृति में ईश्वर का स्थान

वेत्तार व सत्तत्वा और रस्य म ईश्वर ही मवस अवि  
 प्रवग्य तव और वर्य है । एष ही तव की लोष और जान  
 लिये जगत् म अनक धम, सम्प्रद य अ र सिद्धान्तों का सृष्टि ही ईश्वरी  
 गूत् तत्त्व का मिद्ध करता है । आस्तिकवाद से सम्बंध रखने वाले  
 दूसरे शाखा में कमसिद्धान्त का मानने वाले ससार के प्राय सभी ध  
 और सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता का मानते हैं ।  
 वे ईश्वर क लक्षण, गुण या परिभाषाएँ भले ही अपने २ हाइकोण  
 भिन्न २ करते हैं और मानने हैं किन्तु उनकी सत्ता के विषय  
 किसी का भी विवाद नहीं है । नाच लिगे उद्धारण से ईश्वर के विषय  
 म अनेक धर्मों और सम्प्रदायों की भेदा का बली प्रकार प  
 बनता है —

य शैवा समुपासते शिव इति ब्रमेति वेदातिनो,  
 बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपट्ट नैयायिका ।  
 अर्थमित्यथ जैनशासनरता रुमेति मीमांसका,  
 सोऽयं वा विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि ॥

अर्थात्—जिन ईश्वर को शिवायसक शिव रूप में, वेदा  
 साग मद्र रूप में, बौद्ध बुद्ध रूप में, प्रमाणपट्ट नैयायिक कता रूप में  
 जैनशासन को मानने वाले जैन अर्हन् क रूप में, और मीमांस

कमर में मानने हैं वेवा तीन साकों का ग्यामी ईश्वर गुम्हारी इन्सा  
का खुदरा वज है ।

अनक पधौ और माय खों न ईश्वर का आवन २ मिहता  
से किन प्रकार रंग रंगना है उसकी समझ में कभी निमलता पानी है  
और हमके लड़छ और रसना में कितना छ-उर किया है व भाव  
रूपमा में उपपुंके लोके में स्वयं समझें या समझें हैं । हमने यत्र भी  
साह है कि उगाठना के प्रकार निम २ गोन दूर ही ईश्वरवाद मत्ता व  
साव में काई नही । हमी म-नाय की वृष्टि भगवत् वृष्ण  
मत्ता में भा खुन को उगाठने व दृष्ट करत हैं कि आ : 11 त्रिम  
किने सा में भी मेरी उगाठना करत हैं उनका ही हमी रूप में मिलत  
है । त्रिम प्रकार एक ही न ही के अनेक प्रवाद बन जात हैं और अत  
में नही नो अन्तिम लक्ष्य सागम में या मिभत हैं हमी प्रकार निम २  
पधौ और तत्त्वज्ञान का ईश्वर की ज्ञानमत्ता व माने अनक अवसर  
है कि नु ईश्वर का अन्तिम लक्ष्य नवर मानने एक ही है ।

## हृष्टर विषयक ज्ञान की उत्पत्ति का मूल ।

मानव ज्ञान किन प्रकार निम २ अवसरमात्रो और परिमितिवा  
में से गुजर कर उत्तमातर विज्ञान और ज्ञान की ओर बढ़े इसका  
बहुत कुछ पता हम निम्न के प्राचीन इतिहास में देखना है । म व  
अरुण है अत वर मरा से वृणता की आर बढ़ने का प्रयत्न करना  
आया है । वह म 1 ने ही एका नर्म रसा जेना वर आत है कि नु  
उपका शास्त्र का ज्ञान अनेक लक्षियों व निरंतर प्रयत्न म 1  
परिणाम है । इस ज्ञान व उगाठन व निवे कई बार उसको अनेक  
परिनामों का सामना करना पड़ा किन्तु वृणता की आर २ नेम्ही

लगा ने मनुष्य का निर्माण नहीं होने दिया। जिस प्रकार का मर्त्य वह छात्र कर रहा है इस प्रकार अनादि काल में करता आया है, अन्तर में है इतना है कि छात्र का मर्त्य भौतिकवाद का शीर है और प्राचीन मध्य आध्यात्मिक तत्त्व की आर या, अस्तु वही पाठ हो कि वह यह स्थाना है कि जिस समय मनुष्य को मस्तिष्क का विकास होना प्रारम्भ होता उस समय वह २ मानवी बुद्धि प्राकृतिक रहस्या का न समझ पाए ता उनमें अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उठने लगे। प्रकृति के गुण रहस्य भट वटिष्य के और उनका समझ लेना असाध्य नहीं ता निरन्तर कठिन अवश्य था। मानव ने मृत्यु के तन्त्र न द्रमा की शीतल चारना तारागण में परिपूर्ण नभमण्डल, चित्र की देखा तर्क फैले गए महासागर हरे भरे चित्रित अरण्य और गगनचुम्बी पर्वतों की, और अना मस्तिष्क के द्वारा और उनमें जीवन की सुदृष्टा और मानवता के मातृय का स्थापक रूप में पाया। प्रकृति की इन विभूतियों में उनमें आकाश ही आकषण भरा पाया। इन प्राकृतिक आकषणों के कारण यह जीवन के मस्तिष्क की उत्तरोत्तर और अधिक समझने लगा और सांसारिक सुख के लिये उसका तृष्णा बन लगी। कि तु इस सुख-अनुभव के साथ २ मनुष्य ने उवालासुखा पवनों का पटना, सुख ल आना माना की नयनक गचना और उनसे विदुत्पतन, अताप के कारण जब प्रकार और महामारी अति अनेक भयङ्कर रागी की उत्पत्ति आठ अनेक विद्वत् का विषय करने वाले प्राकृतिक कप और विद्वत् का देवा और उनका बड़ अनुभव किया। प्राकृतिक कार्य का सामना करने की बात तो दूर रही उनका वास्तविक रहस्य का समझना भी उनसे लिये कठिन हो गया। मनुष्य ने अना मस्तिष्क लड़ाया और प्रकृति के रहस्या का समझने का पूर्ण प्रयत्न किया किंतु वह रहस्य शीत हो समझ में आने वाला नहीं थे। उनमें समझने के लिये यथान समय की आवश्यकता थी।

## अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति ।

मानव सोचने लगा कि सप्ताह में उहाँ अनेक पदार्थ आवश्यक हैं वहाँ भयावह पदार्थों की भी कमी नहीं । जीवन में माधुर्य है ता कड़वा है ठंड स भी अधिक गरम पड़ा है । सप्ताह में सुख है ता दुःख का भी अन्त नहीं । आरंभ करो मुझे कनी पुनी है कल वहाँ किमी माहति क काय से महार हो जाता ह । कुछ कुछ पूर्ण हो आ सामा सुख होते थे शुद्ध सुख था ही ये रात विज्जान दिख द देने है । आरंभ हो कीड़ासान है अल्प समय क पराजित हो वर रममाण पाट बन जाता है । आरंभ करो रगरलिया माग आरही है कम बहर उवाह हा जाता है । एक घर में आरंभ की कलिया विजय रही है ता दूसरे पड़ोस के ही घर में मृत्यु की भयानकता दृष्टिगोचर होती है । यह सब क्या ! सप्ताह में इतनी बड़ी विपमता क्यों ! क्या इस प्रकार क विपमताएँ विचित्र विषय शक्तिविशेष ने पैदा किया था या यह किसी ने उत्पन्न तने किया किंतु अना दकाल से ऐसा ही था और ऐसा ही चला आया है । यदि किसी शक्तिविशेष ने सप्ताह को उत्पन्न किया तो ऐसी महानक विपमता क्यों रानी ! यदि इस का कर्ता था सप्ताह कोई नहीं तो इस की नियमित व्यवस्था किस प्रकार चल रहा है । सप्ताह विषय क भयावह व्यवस्था भा अनादिनाल से संभवतः क्या का भी है । यह दरदमान नराचर मनार क्या इस का मे ल । शक्ति विषय क इस का अभी पण्य से सप्ताह भी हो जाता है । यदि न प हो जाता है ता क्या वह सब हो जाता है वा ठगता भी कोई कहेंगे । इन बाह्य प्रश्नों क उत्तर मानव क मस्तिष्क में विद्यमान है कई आन्तरिक प्रश्नों के उत्तर वह सोचने लगा कि यह प्रश्न क उत्तर मे भावित हो । इस व्यवस्था में क हृदय, क का प्रभुत्व क करता है ।

वह अहम् तत्त्व भी स्थापित कर अन्तर्यामी की भाँति उत्तर  
 और नाशदाता है या वह अनादि और अविनाशी तत्त्व है ? यदि वह  
 तत्त्व अनादि और नित्य है तो उस का सम्बन्ध मसार ने सादि अनित्य  
 या नाशवान् पदार्थों से क्या और कैसे सम्बन्ध हुआ ? इस प्रकार अनेक  
 लटिल और दुर्बिगम्य अन्तर्मानवी बुद्धि के विनाश काज में मानव के  
 मस्तिष्क में उत्पन्न हुए । विश्व के भिन्न २ प्रदेशों के मानवों ने इन  
 धर्मों का मनन किया और विश्व के वायु तथा आंतरिक ईश्वरों को  
 समझने के लिये पूरा प्रयत्न किया । अनेक युगों के विचार और  
 मनन के पश्चात् मनुष्य ने आत्म तत्त्व के रहस्य को समझा और  
 ईश्वरीय सत्ता की स्थापना हुई । दीर्घकाल के मनन के पश्चात् मानव  
 इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि इन वायु तत्त्व से परे आंतरिक  
 सत्ता में कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सत्ता है जिसे ईश्वर माना  
 जायिये । उस सत्ता का ज्ञान कि पहले भी बताया जा चुका है ससार  
 के भिन्न २ धर्मों के विचारों और आचार्यों ने अपने २ भिन्न २  
 दृष्टिकोण से अवश्य माना किन्तु ईश्वर की सत्ता का समझना स्वीकार  
 किया । ससार के धर्मों और सम्प्रदायों की संख्या तो बहुत बड़ी है  
 और उन सबकी ईश्वर विषयक मान्यता यहाँ नहीं आ सकती ।  
 यहाँ तो केवल वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारत के प्रधान धर्मों  
 के ईश्वर विषयक मत तत्त्व ही संक्षेप से दिये जायेंगे ।

## वैदिक मन्तव्य ।

वैदिक धर्म भारत का एक विशाल और व्यापक धर्म रहा है ।  
 अतिप्राचीन वैदिक संस्कृति के आधार पर ही वैदिक धर्म से अनेक  
 नए सम्प्रदाय निकले और नई २ दार्शनिक शास्त्राचार्य का जन्म हुआ ।  
 उन सम्प्रदायों और शास्त्राचार्यों की संख्या तो बहुत बड़ी है अतः उन

उस पर वश विस्तारमय से नहीं लिखा जा सकता । यहाँ तो पात्रों के साधारण ज्ञान के लिये केवल वेद वेदाङ्ग दशम साख्य और याग दशम के ईश्वर विषयक मन्त्रों पर ही सन्तोष प्रकरश डाला जायगा ।

## वेद में ईश्वर सत्ता ।

वैदिक धर्म का सबसे प्राचीन मन्त्र ऋग्वेद है । चारों वेदों में भी ऋग्वेद ही प्राचीनतम है । इस वेद के सम्पन्न से यह ता स्पष्ट है कि इनके रचनाकाल के या साक्ष्यता के समय ईश्वर विषयक लोका का इतना प्राबल्य नहीं था जितना कि बाद में हुआ । हो ऋग्वेदक काल में लोगों के ईश्वर के विषय में और प्रकृति की उत्पत्ति के विषय में क्या विचार था वे भलीभाँति समझे जा सकते हैं । उस काल में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों पदार्थों का अनादि माना जाता था । नीचे लिखा मन्त्र इनकी साक्षी देता है —

इहो पुण्या सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिपश्यताते ।

तयोरयं पिप्पलं स्वाद्वयनमनयो अभिषाक शीति ॥

अर्थात्— \*उसे दो समान आयु वाले और मित्रतायुक्त पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार दो अनादि और मित्रतायुक्त आत्मा अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा अनादि प्रकृति में रहते हैं । इन दोनों में से एक ( अर्थात् जीवात्मा ) इस प्रकृतिको वृक्ष के फल को चखता है ( अर्थात्—सुख दुःख भोगता है वा भौतिक शरीर में उचने का परिणाम है ) और दूसरा परमात्मा इसके फल को न खाता हुआ ( अर्थात्—सुख दुःख न भोगता हुआ ) सब कुछ देखता हुआ प्रकाशमान हो रहा है ।



मत्स्य का पुष्टि आग चलकर उद्यमपत्नी ने भी की है । मण्डकाग्र-विष में भिला है कि —

यथाहोनामि सृजते गृहते च यथा प्राथम्ये पथय सभरत ।  
यथा सत पुरुषान् केरात्तामानि, तथाऽनरात् सभरतीन्द्र विश्वम् ॥

अथात्—जिन् अक्षर मण्डई वाले को अपने शरीर में ले बनाती है और अन्त में फिर उस वाले को अपने में ही आशुक्षित कर जाता है और ऐसे पथी से अनक प्रकार की शोषावर्षें पैदा होता है और अन्त में सभी पृथ्वीमय हो जायगी है जैसे चेतन पुरुष से वशादि का उत्पत्ति होती है, ठीक उसी अक्षर अक्षर, अशुक्ल और अविनाशी ईश्वर से तारे विश्व की उत्पत्ति होता है और अन्त में तारा विश्व उसी ईश्वर में लीन होजाता है ।

## वेदान्त दर्शन में ईश्वर ।

वैदिक धर्म की भित्ती भी दार्शनिक शास्त्राण हैं उन में वेदान्त दर्शन के सिद्धांत का स्थान बहुत ऊंचा है । वेदान्तदर्शन में आत्म तत्त्व और परमात्मतत्त्व की जो स्थापना की गई है वह बड़ी गंभीर है और वैदिक धर्म में वदन्त मान्यता का अनुयायी चिरकाल से चल रही सरया में रहे हैं । अब तारा भारतवर्ष में महात्मा बुद्ध के प्रभाव में बौद्ध धर्मावलम्बी हो गया था उस समय वेदान्तदर्शन का महान् विद्वान् स्वाधी भी शक्यवाच ने वेदान्तदर्शन प्रचार करके ही पुनः भारत में व्यापक रूप से वास्तविक धर्म का स्थापना की थी । अगु, वेदान्त दर्शन की वैतनाद और अद्वैतवाच नाम की दो बड़ी शाखाएँ हैं । ईश्वरीय या ब्रह्म की मत्ता को दान मानते हैं किन्तु दानों में वेदान्तिक धर्म काफ़ी है ।

दानों के मन्त्रार्थों के अक्षिप्त निर्देशन से पाठक स्वयं नैदानांतिक भिन्नता का समझ जाएगा।

## द्वैतवाद ।

द्वैतवादियों का कहना है कि यदि हम कहें कि "श्वर का अस्तित्व नहीं है तो हम निवेधात्मक वाक्य से ही "श्वर का दाना मिट हो जाता है। इसी प्रकार अद्वैत शब्द में ही द्वैतवाद का निहित हा जानी है। ज्ञान सर्वैव द्वैत है क्योंकि वह ज्ञाता और ज्ञेय में रहता है। ज्ञाता का अविरोधमयित सम्बन्ध है। द्वैतवादिों का मानना है अनुमात्र जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों भिन्न जगत्तियाँ हैं। उन का कहना है कि परमात्मा ज्ञान के ज्ञान का विषय है।

## अद्वैतवाद ।

अद्वैतवादियों का कहना है कि यदि परमात्मा को आत्मा के ज्ञान का विषय मान लिया जाता तो वह आवश्यक है कि परमात्मा आत्मा के समस्त विषयमय हो कर उपस्थित होगा। यदि वह विषय है तो प्रश्न यह उठता है कि वह आत्मा के अन्तर में किन राशियों में रहता है ? विषय और विषयी एक एकदूसरे के अलग-अलग के समान पृथक् पृथक् होते हैं। एक छोर का दूसरे छोर के अन्तर में आना संभव नहीं। अतएव परमात्मा को जीवात्मा का विषय न मान कर जीवात्मा का अन्तरगत आत्मा मानना चाहिये। अद्वैतवाद की मान्यता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। उन का कहना है कि "हीवा पंचतम" अर्थात्—आत्मा साक्षात् ब्रह्म ही है। अन्तर में ही शक्ति के रूप में अनेक दिशाओं में है।

है किन्तु भिन्न २ पारिवीर्य का सहाय हाने स भिन्न २ रूप का धारण करता है। वही जल निम्न न पौधे को दिया हुआ स्वर्ण हो जाता है, अगूर की लता को साँवने से मीठा हो जाता है और असीम के पाप में आकर कटु हो जाता है किन्तु जल भौतिक में एक ही है। चन्द्रमा एक ही है किन्तु तालाब नदी और समुद्रादि में प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक भासता है। ठीक इसी प्रकार एक ही ब्रह्म भिन्न २ रूपों के रूप में अनेक भासता है। जीवात्मा के लिये इन सत्तारों का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह अविद्या या माया व आवरण से आवृत रहता है। उन आवरण के दूर होते ही वह ब्रह्मत्व हो जाता है। यही अद्वैतवाद है।

## साम्य में प्रकृति और पुरुष ।

वेदा त दशम में ब्रह्म प्रकार ब्रह्म और माया की प्रधानता है। इस तरह ॥ सारवदशम में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता है। अखिल चर और अचर, गुण और, सत्ता का विवर्ण करने के पश्चात् साम्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्त में पुरुष और प्रकृति ये ही दो स्वतंत्र तत्त्व अनादि-मूलनन्त अपरिचर रहते हैं। पुरुष का मात्र प्रति तथा सत्, बुद्धि का निवृत्ति के लिये प्रकृति से अपन भिन्नता, ज्ञानना आवश्यक है और त्रिगुणातीत होना, परमावश्यक है। जैसे ज्ञेय और ज्ञेयता विचार के परिणामस्वरूप ज्ञेय या पुरुष का निश्चय होता है इसी प्रकार चर एव अचर अमर के विचार के परिणामस्वरूप सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणात्मक प्रकृति का ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न हैं। पुरुष ज्ञेय है और प्रकृति अज्ञेय है। चेतन पुरुष का अज्ञेय प्रकृति के साथ सम्बन्ध



कर्मनाश न, भक्तिमार्ग से योगमार्ग से और ज्ञानमार्ग से उपाय है। श्रवण, मनन निदिध्यासन एव दर्शन भा उपायों के प्रकार हैं। सबकर्मप्रवृत्तक उस ईश्वर के अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं। काइ भी न भक्त नहीं हो सकता। जैसा योक्तों का कहना है कि कम अचेतन है अतएव उसका शक्ति का भी अचेतन होना स्वाभाविक है। अतः जिन अचेतन के अधिष्ठानत्व के अभाव में काइ भी प्राणी जिस भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। हमनिये कर्मफल देने के लिये ईश्वर की सत्ता का मानना परमावश्यक है। महर्षि गोत्रम लिखते हैं —

इश्वर कारण पुरुषकर्मफलदशनात्। (गीताम सूत्र)

अर्थात्-पुरुषों के अनर्ककर्मणों की देखते हुए हमें ईश्वर की कारणता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। इस भाँति के विद्वानों का कहना है कि जीवात्मा में अधर्म, मिश्रान और प्रमाद के कारण होते हैं। जिस आत्मा में ये सब नहीं पाए जाते किन्तु इनके स्थान में समझान और समाधि गुरुत्व से पाए जाते हैं जैसा आत्मा ही ईश्वर है। समझान के लिये जिस प्रकार पिता यथापवादी, दितापदेष्टा और दयालय है उसी प्रकार ईश्वर भी सब भूतों के लिये भित्तुय हैं।

इस प्रकार वेद की मान्यता के अनुसार ईश्वर अनादि है और सृष्टि का कर्ता है। जैसा कि वेदों में ब्रह्म और माया की व्यापकता, माया में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता, और वायशास्त्र में पुरुष के कमलप्रदानाथ ईश्वर की कारणता आदि सच्चित्त विवर्णसे पाठकों की भली प्रकार पता चल गया होगा कि वैदिक धर्म की इन भिन्न २ शाखों में ईश्वर का और विश्व के स्वरूप का किस प्रकार समझा है और उसकी प्रतिष्ठा किसे है। सर्व सिद्धांतों के माँग भिन्न २ होने हुए भी सब ईश्वरीय सत्ता की एक ही सत्त्व की ओर जान है।

है। मुग़ल के समय काल-मलका अब तक जगत्, सब और परमात्मा इन सबको जो सब में मानवी बुद्धि कितनी प्रयत्नशील रही है वह भावगुण भिन्न २ सिद्धान्तों के बखाने से स्पष्ट हो जाता है। बाप और शिरोधार्य, तब से गुरु प्रभों को समझने के लिये मानव का मस्तिष्क क्या स परेशान होता रहा है और उसने अपनी उपत्र के अनुसार इन प्रभों का उत्तर कैसे दिया और ज्ञान का प्रमाणों का जैसे सुनभाषा, विश्व के इतिहास से और अन्य प्रभों के धर्मग्रन्थों से भरी-भरि सम्पन्न बचन है।

## श्रमण-संस्कृति में ईश्वर ।

जैनधर्म वैदिकधर्म के मान-ईश्वर का अन्तःशक्ति वाला स्वभाव-दमक, स्वयं और अविनाशी तो मानता है कि तुम्हारा बल का कता और नियन्त्रिता नहीं मानता है। जैनदर्शन आत्मा का अनादि मानता है। जिस प्रकार वेगल-रुग्ण में अविनाश का आशय है वही ही जीवात्मा प्रकल्प बन जाता है। इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार जीवात्मा से कर्म का आशय दूर होते हैं वह हृदय-रूप हो जाता है। आत्मा राग द्वेषदि से निरत होने के कारण अनाशक्तिक स्वरूप का भूल जाता है। और अपने-भिन्न २ कर्मों के परिणामस्वरूप अनेकानेक पानिर्वा म-बन्धन होता रहता है। ईश्वर का विवेक शक्ति विकल्पित हो जाती है वह अपने-सकर्मों द्वारा राग द्वेष के संसारों का नाश कर जाता है और कमल-धर्म, स मुक्त हो जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप का पहचान लेता है और फिर वही मुक्तात्मा सर्वज्ञ, आनन्द और सर्वशक्तिमान् होकर परमात्मरूप को प्राप्त होता है। जैनदर्शन की अनुवाद ईश्वर नहीं, स्वतन्त्र स कोई शक्ति नहीं है, किन्तु ईश्वर के समस्त गुण

में रहने हैं । इस लिये जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व पद प्राप्त करने की शक्ति रहता है । यदि जीव कमों के आश्रय से दबी हुई उस शक्ति का विकास करले तो स्वयं ईश्वर बन जाता है । इस प्रकार जैनधर्म ईश्वर तत्त्व को वैदिकधर्म के समान भिन्न स्थान नहीं देता किन्तु ईश्वर तत्त्व को मायता रखता है और उसकी उपासना को भी मानता है । 'वा वा' आत्माएँ कमबन्धनों से मुक्त होती जाती हैं वे सभी समान रूप से ईश्वर पद को पाती हैं । अविद्या या कम के आश्रय से दूर होने से जीवात्मा ही ब्रह्म या ईश्वर बन जाता है । इस विषय में वेदान्त और जैनदर्शन दोनों एक मत हैं ।

## ईश्वर 'सृष्टिकर्ता' क्यों नहीं ?

। यह पहले भी बताया जा चुका है कि जैनधर्म ईश्वर का मसारिका रचयिता और शास्ता नहीं मानता है । जो लोग ऐसा मानते हैं उनका प्रमाण और युक्तियें जैन दृष्टि से सारगर्भित नहीं हैं । ईश्वर को ससार का कर्ता और शास्ता मानने वाले कुछ विद्वानों का कहना है कि जबकि ईश्वर ही शाश्वत और अनादि है । उसके बिना ससार की कोई वस्तु अनादि नहीं । इनमें से भी कुछ लोगों का तो कहना है कि पहले कोई स्थिति नहीं थी, केवल ईश्वर था । ईश्वर ने नहीं स या अभाव से ही सारे ससार की रचना कर डाली । दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर ने अपने अन्दर से ही सारे ससार का उत्पन्न किया या बनाया । जैनधर्म के अनुसार ये दोनों मतान्य निवार हैं । प्रकृति के अणुवणु से हमें पता चलता है कि ससार का कोई भी पदार्थ अभाव से पैदा नहीं होता । प्रत्येक पदार्थ की कुछ पूर्वावस्था अवश्य होती है और किसी भी पदार्थ का अभाव नहीं होता ।

समाप्त म हमें कोई उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जहाँ अभाव से किसी वस्तु का उत्पत्ति होती हो। अतः यह नहीं माना जा सकता कि ईश्वर ने ससार का अभाव से पैदा किया।

जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर ने अपने में से ही विश्व की रचना की उनको माँ सेता भी ठीक नहीं लगती। ईश्वर सर्वज्ञ है और पूर्ण है इस सत्य को सब स्वीकार करते हैं। हम सबका और पूरा ईश्वर से उत्पन्न हुआ है यह ससार का पक्ष और अपूर्ण कैसा हो सकता है? यदि ऐसा मान लिया जाय तो ईश्वर में भी अपूर्णता और अपूर्णता के दोष आ जाते हैं। फिर ससार का तो बहुत बड़ा भाग बढ़ भी है, समस्त चेतन भावान् उस बढ़ की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसके अतिरिक्त सृष्टि के आदिम अवस्था में ईश्वर ने सब आत्माओं को अपने में से निकाला तो उस समय सब आत्माएँ ईश्वर में मिली होने के कारण सब प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त थीं और इस कारण शुद्ध थीं। फिर उन सब आत्माओं को किस दोष या गुण के कारण भिन्न-भिन्न ऊँच या नीच स्थितियों में जाने के लिये बाध किया गया। इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता अतः यह निश्चय है कि ईश्वर ने ससार की रचना अपने में से नहीं की।

इसने अतिरिक्त ईश्वर पूर्ण है और जहाँ पूर्णता होती है वहाँ किसी वस्तु की भी कमी नहीं हो सकती। यह तो पूर्णता शब्द से ही स्पष्ट है। इच्छा वहाँ पैदा होती है वहाँ किसी वस्तु की कमी हो। ईश्वर ने जब ससार को रचा तो उसने रचना की इच्छा अवश्य की होगी क्योंकि बिना इच्छा के ससार की रचना हो नहीं सकती। अब इच्छा हा गई तो ईश्वर में अपूर्णता आ गई है। अतः यदि ईश्वर को ससार स्रष्टा मानें तो वह पूर्ण नहीं कहना सकेगा।



ऐनधन क ता है कि सभार अनक प्रकार की भयानक  
 महाभारी आति बाधिया, भूकम्प, अतिशयि और अनादृष्टि गानि  
 प्राकृतिक प्रकाशो म होने वाला अकाल मृत्यु और अर्ध महापुंदादि  
 अनक भयानक आपत्तियो म भरा पड़ा है। सुख का अश कम है  
 किन्तु दुख स पादित प्राणिया का नन्म सारा आर मुनाई देता है।  
 क्या सभार और मयशक्तिमान् ईश्वर ने ऐस सभार का उत्पन्न करना  
 ही पसन्द किया ? क्या वह मयशक्तिमान् होने दुख अपना शक्ति स  
 ऐस सभार का उत्पन्न नहीं कर सकता था या या सुख, शान्ति और आनन्द से  
 परिपूर्ण होता ? ऐसी स्थिति में उनको भी नियन्त्रण करने की तैशानी  
 न उठाना पड़ती। मय और मयशक्तिमान् ईश्वर न पहल ता सभार  
 का आगम और शक्ति रहित बनाया और फिर उसके लिये पूणता  
 तर पौंचाने र लिये अनेक नियम धर्म बनाए। कई साधारण बुद्धि-  
 रत्न वाला यनि भी जान नूक कर किमो वस्तु को पहले पुरी नहीं  
 बनाता कि बाद में नमका सुधार करना पड़। अतएव सकल-और  
 मयशक्तिमान् ईश्वर ने यदि इस सभार का बनाया होना तो अवश्य  
 ही यह पहल में ही पूण और समथ दाना।

दुख विद्वाना का कथन है कि ईश्वर न ही सभार का रखा है  
 और इस कारण वह सभार का अनक वा रिता है। सभार में वो  
 लाग गुना, गमा शकाकुल और भूकम्पा अकाल मृत्यु क प्राण  
 यन्त है यह मन उनर पून भव या इस भव में किए ५ ० का पल है  
 जिसका भाग टल नहीं सकता। जिस प्रकार पिता सद्गुण व ल पुत्र का  
 पुरस्कार देता है और दुष्ट कम करने वाले को अनुत्प दण्ड देता है  
 इसी प्रकार ईश्वर मय र अख्ये वा पुरे कमों क अनुसार जवों का  
 पद देता है। नार सभार का शान्त और नियन्त्रण यही करता है।

यह मान्यता भी। सुख की लगान्तर ठीक नहीं ठठती। मर और  
सुख केतमान् मर जैसा सादता वैसा सुखार बना सुखता था। अपने  
आपा का पुग कर्म करने की शक्ति ही क्या दी। पन्त उनका पुग  
कर्म करने का शक्ति ही और जब वे उस शक्ति का प्रयोग करने  
ता उनको लण्ड दिया। कोड भी मिला पासे अपने पुगों का घुरे शान्त  
में प्रवृत्त कराए और विडु ठहरे दण्ड दे, भुना वृद्ध भी काइ सुदिसण  
कही नामकती है। आन्ध विता अपने पुगों में पुग कर्म करने की  
प्रवृत्ति ही नहीं वेग जाने देगा।

जन मन्तव्य ।

चैनचम के अनुसार कमरेज ज्ञान व विद्वान् विद्वान् व  
आपदवृत्ता नहीं मानी जाती। चैनचम का मान्य ६.५ दूध  
ज्ञान और ब्रह्म के दानों अनाधिकान म विद्वान् व विद्वान्  
है। वे दोनों ही द्रव्य सत्ता के उत्पन्न करने में काममें हैं। आत्मा का  
वास्तविक स्वरूप एक ही दाता है चाहे वह शुद्ध हो या पुराण में  
मिला हो। सुदम भौतिक शक्तियों के साथ ही आत्मा ब्रह्म के अनुसार में  
मिला हुआ है और इनी कारण आत्मा में सत्त्व, रज, तामस भाव पैदा  
होते हैं। वे विकार ही अच्छे या बुरे कर्मों के निर्मित कारण बनकर  
एक तरह से साधन बन जाते हैं, जिनके द्वारा कर्मों के परमाणु आत्मा  
आत्मा में मिलते हैं। आत्मा के साथ ब्रह्म के संबंध में एक  
प्रकार की शक्ति-संज्ञित दोषात्ता है विद्वान् व विद्वान् ६.५ दाता है तो  
आत्मा में मुख्य रूप से उत्पन्न हो जाते हैं। जब वह सत्त्विक स्वरूप  
समाप्त हो जाती है तो ब्रह्म के अनुसार में शुद्ध हो जाता है।  
जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का गहनान लेता है तो

शक्तिशाली की निजग हाजाती है और आत्मा परमात्म पद को प्रसन्न करता है ।

## मृष्टि की उत्पत्ति ।

जैन धर्म का सिद्धांत कि 'अनुसार सत्कार की रचना सत्कार और असत्कार दो कारणों द्वारा होती है । या दूसरे शब्दों में छः द्रव्यों जीव या आत्मा, आकाश, काय, पुद्गल, धर्म और अधर्म इनके द्वारा होता है । इनमें से एक कारण तो जैसे जीव सत्कार अथवा सत्कार का कारण है और दोषों के कारण असत्कार अर्थात् ब्रह्म है । इन छः द्रव्यों या 'वस्तुओं' के अनन्त पञ्च गुण या स्वभाव से ही सत्कार की रचना होता है । सत्कार कारण का स्वभाव सत्कार होता है और सत्कार के पञ्च ब्रह्म हैं या सत्कार है । ये छः द्रव्य सत्कारादिकाल में विद्यमान हैं और रहते हैं । किसी स्थान समय में इनमें 'सत्कार' से सत्कार का उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु सत्कार अनादि है । इन छः द्रव्यों की भिन्न २ परिवर्तनशाली दशाया, पञ्चो छः परस्पर समघात से सत्कार की उत्पत्ति होती है ।

इन छः द्रव्यों का 'सत्कार' एक दूसरे पर पड़ता रहता है । इनमें सत्कार होने नाश होने और स्थिर रहने की शक्ति है । इसी शक्तिको सत्ता भी कहा जाता है । यह सत्ता इन छः द्रव्यों में ही रहती है उनमें भिन्न कोई वस्तु नहीं । या दूसरे शब्दों में इस सत्ता का द्रव्यों से निरपेक्ष सम्बन्ध है । इससे यह स्पष्ट है कि सत्कार को 'उत्पत्ति' या नाश करने वाली शक्ति छः द्रव्यों के अन्तर्गत ही विद्यमान है । सत्कार से पृथक् वह कोई शक्ति, सत्ता या व्यक्ति नहीं है । द्रव्यों के 'अतन्त्र' रहने वाली इस शक्तिको जैन धर्म इतना नहीं मानता ।

## ईश्वर का ससार से सम्बन्ध ।

अब प्रश्न यह है कि 'चैन मिद्वान्त' व 'अनुभव' व 'ईश्वर' न का ससार का कर्ता है और न जीवों के कर्मफल सुगठाने वाला नियन्ता है ता फिर उस का ससार से संबंध ही क्या रहा ? अब यह ससार के कामों में और उस की व्यवस्था में हमसे नही कर सकता और नही किसी को हानि या लाभ ही पहुँचा सकता है तो फिर 'एम ईश्वर' का मानने से, उस की पूजा और उपासना करने में ससार का क्या लाभ ? ठीक ईश्वर की 'सबकुछ और अनन्य ऐश्वर्यपूर्ण स' ससार की क्या वापदा ? वैसी लोग जो मन्दिरों में जाकर भगवान् की प्रार्थना करने हैं धूप, दीप और चन्दन आदिसे भगवान् का अर्चन करते हैं, त्यागका और उपासकों में जाकर उस का ध्यान चित्तन और करने करते हैं, यह सब करने से फिर क्या लाभ होता है ?

इस का उत्तर चैन 'मिद्वान्त' इस प्रकार देता है । प्रातःकाल के जागने के अनुभव में हम देखते हैं कि कब हम किसी दुष्ट पुरुष को देख लेते हैं या उस का चिन्तन हो जाता है या हमारे में बुरे भाव उत्पन्न होने लगते हैं और दुष्ट की दुष्टता पर दोष प्राय जाता है । इसी प्रकार अब कभी किसी मर्दानगी या माणुस्य के हमें दर्शन करते हैं या उस का चिन्तन करते हैं या फिर किसी प्रशस्तिता और शान्ति उपभोक्ता है । पवित्र विचार उत्पन्न है और उत्साह शुरू होता है । विश्वभर में बड़े २ महापुरुष, जगो, विद्वानों और नेताओं के जा बुद्ध बनाकर यह सब चीखें और धक्के में रसे गए हैं और जिस महापुरुषों पर उन बुद्धों ने स्तुति का पूरा माताप डाला है उसको मतलब भी। जो लोग ईश्वर को लोग उनका महापुरुष, बीर, महापुरुषों मिद्वान्त का प्रयत्न करते हैं ।

मन्दिर में भगवान् की प्रतिमा के चरण करने से छुट्टी स्थान में बैठ कर भगवान् को चित्त करने से सम्यक् नियमिता को चोर बदता है । आत्मा भगवान् के गुणों को अपमान लगता है और गान हर्षा विचारों का त्याग करने लगता है । आत्मा में विषय रसि का विधान होने लगता है और आत्मा कथनी चतुर्द क मूलधारण प्रयत्न और भाव से सुखदायक जाता है । आत्मा की उत्पत्ति प्राप्ति होता है और वह पृथक्ता की आदर बदल लगता है । दयात्मा में जो गुण है व आत्मा में भी है किन्तु राग हर्षादि के आवरण के कारण से छिपे हुए हैं । भगवान् के पूजन या चिन्तन करने से आत्मा उन पथ की ओर बढ़ने लगता है जहाँ राग द्वेषादि का व । आत्मा से दूर रह जाता है । भगवान् के निरंतर समन या निमन से आत्मा अपने वास्तविक स्वभाव को समझने लगता है । मन व व्यापारिक उत्पत्ति और मानव जीवन के चरित्र के लिए व । पूजन, चिन्तन स्मरण और सर्वत्र निरन्तर आभरण है ।

१० १ १२ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

## बौद्ध धर्म में ईश्वर की मान्यता ।

महात्मा बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व में बढ़ना ही ठीक नहीं समझा । इश्वरीय ज्ञान को मानना या न मानना यह बौद्ध दार्शनिकों से कोई आवश्यक या महत्वपूर्ण सिद्धांत नहीं है । यह संसार कब प्रारम्भ हुआ इसका कब अंत होगा यह किसी ने मनाया वह मनाया और अनन्त है, इस प्रकार के वादविवादों को बुद्ध निषेध और मूलतत्पूर्ण समझते थे वे तो विशेष रूप आत्म सुधार पर और स्वयं-पालन पर देखे थे । जब कभी भी उनके शिष्यों ने इस प्रकार के संसार की उत्पत्ति विषयक प्रश्न उनसे पूछे उन्होंने

उन्हें प्राप्त होने देकर प्रभों की निरयक्तता ता<sup>३</sup> । इस प्रकार के विचारों पर विचारवादी बर्ने वालों का प्रकरण 'मन्वास सुत' में ज्ञाता है या इस प्रकार है —

"यह मूल है या इस प्रकार के विचार करता है कि मैं भूतकाल में था या नहीं । भूतकाल में मैं क्या था और भविष्यत् काल में मैं रहूँगा या नहीं । भविष्यत् काल में मेरा क्या स्वरूप होगा और वर्तमान काल में भी अपने दिल में ऐसे विचार करता है कि मेरा वास्तव में अस्तित्व है भी या नहीं । मैं क्या अस्तु हूँ ? यदि मैं कुछ अस्तु हूँ तो कहाँ से आगया और अस्तु के बाद कहाँ चला जाऊँगा ?"

महात्मा बुद्ध अपने उपदेशों में दूसरों की भलाई और सदाचार पर जोर देते थे । दुःख की सत्ता के विषय में उनमें कुछ विशारद विद्वत् सुत<sup>४</sup> भी मिलते हैं<sup>५</sup> । इस सूत्र के प्रारम्भ में दो ब्राह्मण पुत्रकवत्तिष्ठ और भारद्वाज का विवाद करते हैं । उनके विवाद का विषय है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये क्या मार्ग कीर्तना है ? वे दोनों अपना रुकावट निवारणार्थ महात्मा बुद्ध की सेवा में आते हैं । उनके संशय को महात्मा बुद्ध इस प्रकार दूर करते हैं —

"हे वत्तिष्ठ ! इस प्रकार के ब्राह्मण जो तीनों धर्मों को पट्टे कर भी उनमें से किसी को निरस्कार करते हैं त्रिंशसे अनुपम ब्राह्मण बनता है और वे ऐसा पाठ करते हैं 'हम इन्द्र को पुकारते हैं, काम को पुकारते हैं, वरुण को पुकारते हैं, ईशान का पुकारते हैं, प्रधावति को पुकारते हैं, ब्रह्म का पुकारते हैं, भद्रिदि का पुकारते हैं, यम को

पुकारते हैं" समिष्ट । यह कभी सम्भव नहीं कि ये ब्राह्मण का बद पढ़े हुए हैं पर उन गुणों का विचार करते हैं विनम्र मनुष्य वास्तव में ब्राह्मण बनता है और उन गुणों का धारण करते हैं विनम्र मनुष्य ब्राह्मण बनता है जबल स्तुति और मानना व काव्य श्रुति के पश्चात् अब शरीर छूट जाता है ब्रह्म को प्राप्त हो गया ।"

‘अथवा समिष्ट ! क्या यह सम्भव है कि ये ब्राह्मण का वेद पढ़े जाने पर भी अपने हृदय में मोघ और द्वेष धारण किए हैं, का पानी और अमयमी हैं मरान पीछे शरीर सादन पर उन ब्रह्म को प्राप्त कर सकें का मोघ, द्वेष और पार गदित है और तबम स्वयं है ।"

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व के बाद विवाद में न पड़ कर भाष और द्वेष का त्याग पर धार संयम व पालन पर अधिक जोर देते हैं । जो की उपेक्षा और ब्राह्मणों की निम्ना उन्होंने इस कारण की कि तत्कालीन ब्राह्मण देशों की आड़ लेकर काष, द्वेष, असवम और हिंसा में प्रवृत्त होगए ये और ब्राह्मणत्व के बालविक स्वरूप का भूल चुके थे ।

वैदिक धर्म के समान ईश्वर के अस्तित्व का प्रचार न करके महात्मा बुद्ध ने आत्मनवम, आत्म सुधार, मानव जाति तथा मानिसात्र के प्रति मुहद्भाष, शुभकर्मों का सावरण और मानविक पविषता के प्रचार पर जोर दिया । अब नीचे पाठकों के आनाप वेद धर्म के मुख्य सिद्धान्तों का मन्त्रणों पर संक्षेप से प्रकाश डाला जायगा ।

## बौद्ध धर्म में निर्वाण ।

निर्वाण शब्द का अर्थ मोक्षान्तियों का ब्रह्मानन्द नहीं है ।

संन्यास में इसका अर्थ-वासना और अज्ञानादि विषयों का खाली हो बुझा देने का नाम ही निवाण है। पारमार्थिक सत्य का अनुभव होने पर पञ्चान् पारमार्थिक सत्य की खोज की जाती है और इसी सत्य का अभिगत करना ही 'निवाण' प्राप्त करना है।

सर्व प्रपञ्चानामुपराम ।

अर्थात्-सब प्रपञ्चों का नाश करना ही निवाण प्राप्त करना है। निवाण के मुख्य दो मत हैं — (१) उपाधिशेष और (२) अनुपाधिशेष। निवाण की प्राप्ति तृप्त्या के उच्छेद से होती है। जीवशास्त्र का 'सामना राक्षस्य' और बीड़ों का तृप्त्या उच्छेद से मिलते जुलते हैं। चार आयतन माने गए हैं किन्तु अनुभव से ही तृप्त्या का नाश होता है। ये चार आयतन मत्स्य दुःख, समुद्रय निरोध और प्रतिपत्ति हैं। परिदृश्यमान जगत् में मत्स्य दुःख ही दुःख है। जीवन में दुःख के निवार और कुछ दिखाई नहीं देता। इस दुःख का उदय जीव की वासना से होता है। इसका निरोध हो सकता है और हमकी प्रतिपत्ति 'अष्टांगिमार्ग' और ऋषीणादि से होती है। ये अष्टांगि मार्ग ये हैं — (१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् चिन्तन (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आशीर्ष, (६) सम्यक् स्वाध्याय, (७) सम्यक् स्मृति और, (८) सम्यक् समाधि। इसी प्रकार नाचे दस भाव इस मार्ग के बाधक हैं — (१) सत्काय दृष्टि, (२) विचिकित्सा, (३) शीनवृत्त परामश (४) काम, (५) प्रतिषेध, (६) क्रूरता, (७) अक्रूरता, (८) मान, (९) औदत्य और (१०) अविद्या। ऐसे दो दम ही निषेधात्मक सिद्धांत हैं — (१) प्राणाविराग, (२) अदत्तादान, (३) अन्नचक्षुष्य (४) मृगान्, (५) पैशुव (६) औदत्य, (७) वृथा प्रलाप, (८) लाम, (९) द्वेष और (१०) विचिकित्सा। बंद धर्म —



मन्त्र १ रचने वाली विद्यात्मक शक्ति २ यही शक्ति है। यह यावत्परिक  
है और भुव का अज्ञानता के अन्तर्गत में प्रकाशमान माना है।  
यहो मन्त्र का गायन मिलि थी त्रिमूर्ति महात्मा तुम्हें ही अज्ञान भव  
का द्वापारित किया था।

## बौद्ध परम्परा में क्षणिकवाद ।

महात्मा बुद्ध ने अन्तर्वाद अर्थात्-आत्मवाद की निन्दा  
की है। सामाजिक तत्त्व पदार्थों का क्षणिक माना है। हर एक पदार्थ का  
क्षण क्षण में नाश होता रहता है। उदाहरणार्थ खाने, पीने का निकलना  
दूर पुस्तक को या अनुमान से नशाही शर्तों के अन्तर्गत वास्तविकताओं  
है और तब ही से होने ही उसका पत्र भुजने लगता है। क्या यह प्रमाण  
करने वाली शक्ति एक ही दिन में वेदा हावाती है? नहीं, उस पुस्तक  
में क्षण क्षण में नाशकर परिवर्तन होता रहता है और अन्त में उस  
पुस्तक का परमाणु अपनी जनना वसुंधरा में ही जो मिलता है। इस  
तत्त्व से बौद्ध धर्म का मानना है अनुसार संसार के सब भव पदार्थ  
क्षणिकवाद में रखा जाता है। यहाँ तक कि आत्मा का भी नाश माना  
है। अतः भूत वह प्रश्न उठता है कि अगर आत्मा का भी नाश  
हो जाता है तो मृत्यु के बाद 'निर्वाण' या 'मुक्ति' निर किसे तत्त्व की  
होती है? श्रवण का तो वैसा ही बौद्ध धर्म में महत्त्व नहीं दिया गया  
और आत्मा का नाशवाद मान लिया निर ऐमा कौनसा तत्त्व अवशिष्ट  
रहा जिसकी मुक्त दान को सम्भावना की जा सकती है? हमका उत्तर  
यहाँ है कि बौद्ध धर्म में त्रिमूर्ति का आत्मा के नाश से बड़ा है वह  
वस्तु है जो संसार आरम्भ के कारण एक दूसरे में भिन्नता पर  
देता है और जो 'निर्वाण' की प्राप्ति होने ही नष्ट हो जाता है। हम  
आत्मा का नाश माना मानकर उस वस्तु में ही जो हर एक चराचर

जीर में ध्यातक है, जो 'वायुचित्त' है, जो अपनी सूक्ष्म अवस्था का प्रथम शरीर संस्कारों और कर्मों से छाने वाले घटा का साट कर निर्वाण पद का प्राप्त करता है। यह नक्षत्र सप्तम कर्मागार मूल और सुद्धम गणना है और नक्षत्र-नक्षत्र में परिवर्तन होता रहता है।

## नित्य सत्य ।

महा मा बुद्ध ने कहा था कि—'अथ भगवति उच्यते नानानि' अर्थात्—इस प्रकार में माना प्रकार के बहुत सत्य नहीं हैं। नित्य सत्य माया में बहुत साफ़ से ही है। इन नित्य-सत्त्वों के अगुमार चलकर ही मनुष्य अपने माय का छार करता है। अज्ञान-रुकाव का नाश करने वाली उच्यते उ ही से मिल सकती है और जीवन का वास्तविक लक्ष्य वा श्रेष्ठ फलार्जन होकरता है। दमना का प्रामाण्य मानने वाले भी अपने ७ दशनों में माह रूप लेकर में कैसे रहते हैं। तब भी अप्रतिष्ठ द अत नाना शक्तिशालक है।

नित्य है, यह बात काफी हद तक ग्रीक भी माहूम गता है किन्तु दशन के अभाव में आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने का और वाद लापत ना ता दिवार नहीं देता। इस प्रकार के सिद्धान्तों और प्रदर्शनों का चर्चयूँ महात्मा बुद्ध ने शिष्यों में भक्त बनने का कारण बना। उन के शिष्य बाद में दा वनों में बैठ गए। सर्वप्रथम गौतम के दो सप्रमाण हुए वा हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध हैं। हीनयान माभी 'थेमातिक' और सीमातिक नाम के दा भेद हुए। वैसे ही महायान में बोधाचार और माग्धिय नाम के दा वग हुए।

## धर्म निःकाय ।

इस प्रकार दा प्रमाण बौद्ध-दर्शनों में नहीं दिया किन्तु महा...

स्थान पर या उस का पथाय 'धर्म निकाय' शब्द मिलता है जिसे बुद्ध का शरीर भी कहते हैं। समता का पाथ भी इसी से जाता है। बौद्ध-धर्म प्र पों में धर्म निकाय या बुद्ध का स्वरूप इसी प्रकार वर्णन किया है। बुद्धकाय की यह प्रकृति है कि वह दृश्यमान अगत् नानात्व में स्वयमेव अस्तित्व धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्व के बाहर स्थित नहीं रह सकता, वह एक वह उस में निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम दृश्यमान ससार के पदार्थों की निमित्तताओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तो हमें सबब धर्मकाय के मित्राण और कुछ भी दस्ताई नहीं देता और इस तरह से हमें वस्तुओं की समता स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

दृश्य अगत् की पथार्थता और नानात्व को मानन के साथ २ बौद्धधर्म की यह भावना है कि जितने भी पदार्थ हमें मिलाने देने हैं वे सब एक अस्तित्व कारण से उत्पन्न होने हैं जो सर्वशक्तिमान्, सबल और सदायस है। वह अगत् उस कारण आत्मा अथवा जीवन का एक स्वरूप है। धर्म का महत्त्व में भी सामानिक सभी पदार्थ परमत्त्व न स्वभाव से गुण देने हैं। अतएव ईश्वर या इस अगत् में नहीं है वह अमन है और अगत् को ईश्वर में नहीं है वह मिथ्या है। समार के सब पदार्थ एक ही तत्त्व में लाने जाते हैं और एक ही तत्त्व अनेक पदार्थों के रूप में कम करता है। अतएव अनेक एक में है और एक अनेक में है। समार और परमात्मा के विषय में बौद्धों का यही सिद्धान्त है। जिस प्रकार मनुष्य की अनेक तरंगें और लहरें लहराती और उभरती होती हुई वेवल एक बनने ही नित्य स्वरूप की ही विभिन्न गतिवा हैं इसी प्रकार समार की सब निवार्य भी भिन्न २ रूप से भावने पर भी एक ही तत्त्व की प्रतिबिम्बमान हैं। इस से विश पाठक

संज्ञी प्रकार समझ गए होंगे कि जैसे अद्वैतवाद में अनाभिन्निय ब्रह्म का तत्त्व ही सत्ता मानी है और समार व मन आत्मा उनी एक तत्त्व व प्रकाश है और उस से अभिन्न है ठीक उनी प्रकार बौद्धधर्म के उपनिषद् सिद्धान्त में भी नानात्व का उद्घाटन एक ही तत्त्व से माना है जो नानात्व से भिन्न नहीं है ।

## एकाग्र ध्यान की प्रधानता ।

बौद्धधर्म की एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है । इस में किसी वस्तु का जानने के लिये उस व लिये कुछ दर्शन या वादविवाद का महत्व नहीं दिया जाता किन्तु अपने एकाग्र ध्यान से उसे समझने पर आर दिया जाता है । किसी अनुभव में न आई हुई वस्तु पर उस व अस्तित्व या अच्छेपन पर तक करना या उस विवाद का विषय बनाना या किसी तत्त्व पर केवल भ्रम का भाव रखना सर्वथा मूल्यता मानी है । यदि ईश्वर है या उस के लिये प्रशोत्तर करना व्यर्थ है कि न मनुष्य का चाहिये कि वह स्वयं अपने अनुभव से जो ध्यान द्वारा आता है उसे समझे । यदि आत्मा ही परमात्मा है तो इस भावना को ध्यान से कायरूप में परीक्षित करना चाहिये केवल 'अमुक वस्तु ऐसे है' ऐसी भ्रम या विश्वास करने से कोई लाभ नहीं । बौद्धदर्शनों में अधिकतर आर ध्यान पर ही दिया है । बौद्धधर्म की मान्यता है कि धर्म का अर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं । इस लिये धार्मिक पुरुषों को तत्त्व की विज्ञाना करनी चाहिये, छाया की नहीं । प्रकाश की गवेषणा करनी चाहिये, प्रतिबिम्ब की नहीं । अत वास्तविक तत्त्व की खोज और ज्ञान के लिये ध्यान को ही प्रधानता देनी चाहिये विवाद और तक की नहीं ।

इस प्रकार अन्त में कबच यही कहना पसाम हागा कि बौद्ध धर्म में केवल एक ही महान् तत्व माना है और समस्त तत्व सब प्राणी उस के दार्शनिक स्वरूप हैं। अब ये सब उस तत्व के अनुकूल बनते हैं तो सब नियम हैं और अब अहंकार और अज्ञान के द्वारा उन से विहीन बनते हैं ता नाश का प्राप्त होन है।

इस प्रकार वैदिक और बौद्ध इन तीनों भारतीय महान् धर्मों में ईश्वर विषयक सन्निभ विरलपण से पार्श्वों का भली प्रकार उजागर किया गया होगा कि तीनों धर्मों में ईश्वर का क्या स्थान है और तीनों किस रूप में उस की सत्ता का स्वीकार करने हैं।



# ॐ नमो भगवते वासुदेवाय श्रमण-संस्कृति का स्वरूप ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

भ्रमण संस्कृति भारत की आद्यप्राचीन संस्कृति है। जैन और बौद्ध दोनो भ्रमण संस्कृति की ही भिन्न २ शाखाएँ हैं। भ्रमण शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों के साधुओं के लिये किया जाता है। यही भ्रमण-संस्कृति से जैन संस्कृति सम्भन्धी चारिष्य। वर्तमान समय में तापस्वर धर्म 'के अनुयायियों के लिये जो जैन शास्त्र का प्रयोग प्रचलित है यह विरम संवत् २००० के लगभग ही प्रयोग में आने लगा। उसके पूर्व इस धर्म को भ्रमण धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। आदि तपस्वर भगवान् आप्तदेव स्वामी से लेकर जो परम्परागत प्रवचन चला आता है उसका मानने वालों का भ्रमण-धर्मावलम्बी कहते हैं। तीर्थंकर को ही भूतना नाम दिन है किन्तु अनुयायी उसमान समय में जैन कहलाते हैं।

## संस्कृति की परिभाषा

मनु उक्तार्थ पूर्वक 'इ' शब्द से भूषण अर्थ में सुद्धा का आगम करके 'सिद्ध' प्रत्यय लगाने से संस्कृति शब्द बन आता है। इस प्रकार संस्कृति शब्द का अर्थ होता है सुशुद्ध मूल सम्यक् कृति। आचर सारे विश्व में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसका सम्यक् और असम्यक क्रम का विवेक होता है और यही विवेक पशु समार की अपेक्षा मानव को उन्नत और उत्तम बनाता है। इससे अतिरिक्त संस्कृति का पूरा अर्थ सम्यक् के लिये साक्षात् शुद्ध का नाम

भी परमावश्यक है। सस्कार का अर्थ है किसी वस्तु को शुद्ध करना या उसका आंतरिक प्रकाश को प्रकट करना। निस्सन्देह सम्कारों की उत्पत्ति और सम्भव बाध जगत् सभी बहुत है किन्तु वास्तव में सस्कारों का उद्देश्य मानसिक और आध्यात्मिक होता है। अब हम किसी मनुष्य का कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है ता हमारा अभिप्राय उसकी बहुत बातों से नहीं होता बल्कि हम देखते हैं कि उसका मन और आत्मा कितने ऊपर उठे हुए हैं या विकसित हो चुके हैं। यही कारण है कि सुसंस्कृत मनुष्य मन और आत्मा के उत्थान के कारण सदा सत्कर्मों की ओर ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सस्कृति मानव का आन्तरिक गुण है और इसके विकास से ही मानव जाति के नारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक व्यवहार सुचारु रूप से चल सकते हैं। सस्कृति ही मानव की मानवता की ओर ले जाती है।

## सस्कृति और सम्म्यता ।

बहुत से सज्जन इन दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं किन्तु वास्तव में दोनों में महान् भेद है। सस्कृति मानव की आन्तरिक वस्तु है और सम्म्यता बाहर की। सस्कृति मानव को आध्यात्मिकवाद की ओर ले जाती है और सम्म्यता प्रकृतिवाद की ओर। अतएव यह आवश्यक नहीं कि जो लोग सम्म्य हो वे सुसंस्कृत भी आवश्यक होंगे। भद्वेय भी स्वामी सत्यदेव परित्राजकाचार्य ने इसका बड़ा सुन्दर वितर्कन किया है \* —

“अब हम यह कहते हैं कि धर्मन जाति सम्म्य है, तो इसका

• देखो कल्याण वा हिन्दू सम्मति अंक पृ० २३४।

अर्थ यह है कि वह जानि अपने दैनिक जीवन में सुधरे हुए साधनों का व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीर को अधिक से अधिक सुख और मज्जा मिले। अमेरिकन लोग बड़े सम्पन्न हैं, क्योंकि वे बिजली से खाना बनाने हैं और ट्रैक्टरों द्वारा खेती करते हैं। उनके यहाँ इनके तांग जैसी कोई सवारी नहीं, और इनकी आगरी के प्रत्येक कोड़े व्यक्ति के पास अपनी मोटरकार है। वे जातिवा आर्थ वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करती हुई अपने जीवन स्तर का केंचा उठाती चली जाती हैं, वे जातिवा सम्पन्न कहलाती हैं अंगरेजी भाषा में सम्पत्ता के लिये 'Civilization' शब्द का व्यवहार किया जाता है। इन जातिवा की जीवन आवश्यकताएँ उत्तरात्तर बढ़ती जाती हैं और बढ़ती रहेंगी क्योंकि इन का मुँह सम्पत्ता की ओर है। वे प्राकृतिक पदार्थों तथा भोगों के अन्दर ही सुख शान्ति की तलाश करती हैं, बिन का कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातिवों के पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'तद्वृत्त' भी है किन्तु वह सम्पत्ता के पीछे रह उस की चेती बन कर चलता है। वे सुन्दर चित्र बनाएंगे, कलाकारों को उत्साहित करेंगे, कवियों को पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उस में निवास करेंगे, अपनी मोल चाल में होटलों तथा दुकानों में उन की भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। लेकिन उन सब का मुख्य लक्ष्य होगा सम्पत्ता के खुदा 'धन' की प्रशंसा करना, और दूसरों की खेजों में से पैसा निकालना। दूसरे शब्दों में यह सुसंस्कृत अवस्था है किन्तु अपनी सम्पत्ता का आगे बढ़ाने के लिये प्राकृतिक सुखों का मजा लूटने के लिये उन का सारा धन खर्च हो जाता है। अतः यह वृत्ति बहिष्कृत होनी चाहिए कि कारण वे सभी



जातिवां को अपनी उम्र सपेट में ले ला है और कच्चे मानवों को  
 में पृथ्वी को गंद बना है। पछा मानव बनने के लिये गुण प्रकार के  
 दोर-पन, गुल प्रयत्न काम न लात है। बने तक कि पुष्ट के गो/व  
 नरक से भी नहीं दलने।

अब आये सस्कृति की ओर, जिस पर मानव की मानवता  
 पृथ्वी से निभर है। सस्कृति है आत्मा की बन्धु, आत्मिक उत्थान  
 का चिह्न, आत्मिक उत्थान की सोढ़ी और आत्मज्ञान का माग।  
 सम्पत्ता है अन्तः विद्या और सम्पत्ति है पल विद्या। यदि हमें इन दो  
 शक्तियों का लक्षण समझी भाषा में बोझ करना पड़े तो हम इसे  
 एक प्रकार करेंगे—

(Civilization is an expression of flesh, while  
 culture is the manifestation of soul)

अर्थात्— सम्पत्ता शरीर के मनोविकारों की दोतक है, जब कि  
 संस्कृति आत्मा के अनुत्थान की प्रशिक्षण है। सम्पत्ता का उत्थान  
 मानव का प्रकृतिवादी की आर ल लाता है, जब कि सस्कृति मानव को  
 अन्तर्गामी बलके उक्त के आत्मिक गुणों को प्रकट करती है।

## श्रमण सस्कृति की विशेषताएँ ।

श्रमण सस्कृति आध्यात्मिक के प्रति समता रखने का उपदेश देती  
 है। विश्व के सब जीवों के प्रति दया रखना और उनका कल्याण चारना  
 श्रमण सस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। इसकी दया की सीमा केवल  
 जगत् सत्कार के प्राणियों के लिये ही सीमित नहीं अभिनु रथावर सत्कार  
 के प्राणों के लिये भी प्रसारित है। अन्न गुण दुःख के समान ही

संसार के सब जीवों के सुख दुःख का सम्ममना चाहिये, यह सन्देश भ्रमण सन्कृति ने संसार को दिया है। भ्रमण सन्कृति का सारा कामकाज समता के उपदेश से चलकृत है। त्रैलोक्य में सब प्राणी, आत्मा, देह, स्थूल और सूक्ष्म ब्रह्मण्य भी आचार विचार है सब समता के आदेश की आर ही इंगित करते हैं।

## कर्म त्रियाक ।

भ्रमण सन्कृति ने विद्वान् के अनुसार प्रत्येक आत्मा चाहे वह स्थावर संसार में वनस्पति की देह में हो, चार कीट, पक्ष या पशु पक्षी के शरीर में हो और चाहे मानव की देह में हो तान्त्रिक दृष्टि से समान है। छोटा या बड़ा आकार शरीर का हो भरता है आत्मा का नहीं। आत्मा सब प्राणियों में समान है। जहां म जा शारीरिक और मानसिक विषयना दृष्टिमान्तरदाता है वह कर्ममूक है। बैठा-बैठा जीव उत्तम या अधम कर्म करतार रहता है बैठा-बैठा ही उसकी पल भोगना पड़ता है। कम क अनुसार ही जाव भिन्न-भिन्न अच्छी या बुरा योनिर्मा में ज म होता रहता है। कम के अनुसार ही उसे सुख या दुःख मिलते हैं। जीव बैठा २ कम करता है बैठा ही उसका संस्कार बनता है और उस संस्कार के अनुसार ही उसका अंतःकरण का वृत्ति बनती है। उस वृत्ति के अनुसार ही त्रय की भिन्न २ विषयो में प्रवृत्ति होता है। अतएव यदि कम उत्तम हो तो आध्यात्मिक पथ की ओर जाने लगता है और यदि कम निम्न हो तो जाव पतन की न्याय बढ़ता है। छुद्र में छुद्र योनि में पड़ा हुआ जीव भी उत्तमकर्मों के परिष्कार स्वरूप मानव योनि में ज म ले सकता है और मानव योनि में पड़ा हुआ जीव निम्न कर्मों के प्रभाव से

क्षुद्रतम यानि में ज म लेता है। इन प्रकार के न नीच यानि, सुख दुःख और व्रम, मरण ज्ञानि सदा आधार बर्म ही है। वैदिक तथा अन्य ब्रह्म से धर्मों में बर्मों का नियंत्रण ईश्वरीय सत्ता के अधीन माना है किन्तु भयण सृष्टि उससे मरमत नहीं। वेन दर्शन के अनुसार जीव का बर्मों का जल भुगताने प लिये किता ईश्वर जैसी सत्ता का आवश्यकता नहीं समझी गई। अनादि और अनन्त सत्ता म जीव और अजीव नाम के दो प्रधान पदार्थ हैं। ज व चेतन है और अजीव जड़। जीव निद्रा और सजगरी दो प्रकार का है। निद्रा-वस्था जीव का शुद्ध स्वरूप है। सजगरी जब कम कचन से बधा हुआ है। दृश्यमान पदार्थ पदार्थ द्रव्य के भिन्न २ भव हैं। ज व आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप का भूलकर पुनर्गत द्रव्या का और प्रवृत्ति करता है और उन पर अज्ञानवश आकर्ष हो जाता है ता आत्मा में राग भाव उत्पन्न होता है और उस राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राग से ही द्वेष रूप विकारी भावां स आत्मा व साथ कम पुनर्जा का भ्रम उत्पन्न होता है और राग द्वेष रूप भिन्ननाद के कारण बमरज जाकर जीव के साथ निपट जाती है। राग द्वेष व अभाव में बर्मर-रा नहीं हो सकता। जिस प्रकार मत्प्रदान से नशा स्वयं आ जाता है। इसी प्रकार बर्मों का भी जीव के साथ ऐसा बंध होता है कि बर्मों म अनुरूप जल प्रदान की शक्ति उत्पन्न होता है। ज व २ जिस २ कम का उदय होता है तब-तब वह अपने स्वभावानुसार ही जल उत्पन्न कर देता है।

## भौतिकवाद और आत्म तत्त्व ।

आगमों व विद्वान्त अनादिकाल में मानव को आत्मा

पिक उन्नति को आर प्रेरित करते आए हैं। प्रकृतिवादी या भौतिकवादी  
 की सदा ही अमण्य धर्म के महर्षियों ने उपज्ञा की है। भौतिकवादी  
 को ही सबे भला मानने वाला आन का मानव भल ही उन मर्षियों  
 को उपेक्षा की दृष्टि से देखे, या उनकी बुद्धि को प्रकृतिवादी के क्षेत्र में  
 अविश्लिष्ट समझे किन्तु तार्किक दृष्टि से विचार करने पर उनकी ही  
 दृष्टि विशाल जैवती है। यह ठीक है कि मानव जाति ने बहुत दूर तक  
 प्रकृति पर प्रशस्नीय विजय प्राप्त करली है। मानव वायुयाना पर  
 आकाश में उड़ने लग गया है और मरुतों की यात्रा पर्वत महा  
 सुनम होगी। रेडियो यंत्र ने आविष्कार से बहुरंगी उड़े ही गार  
 समारंभ समानार सुन सकता है। पन्डुरिया में बैठ कर वह समुद्र  
 के स्तर पर जान सकता है और युद्ध-गातों को तोड़ देता है। एषाद  
 लक्ष्मी द्वारा एटम बम बरता कर वह कुछ क्षणों में प्रलय मचा  
 सकता है किन्तु इन सब और अनेक प्रकार के भौतिक  
 आविष्कारों से वह वास्तव में ऊँचा नहीं उठ पाया है। भौतिकवाद  
 की इस उन्नति की आर मानव के परिणामस्वरूप ही विश्व को गल  
 दो महायुद्धों की भीषणता का सामना करना पड़ा। और अब तीसरे  
 महायुद्ध के बाद निरंतर मँडराने नजर आ रहे हैं। विश्व के किसी  
 कान में भी शांति नहीं है। सत्र प्रशान्ति, भय, बलाह और  
 अत्याचार बढ़ रहे हैं। यह सब होते हुए भी भौतिकवाद का दास  
 आन का मानव बड़ी शान से यह कहता है कि आन का युग  
 विज्ञान का युग है, विकास का युग है और प्रगति का युग है।  
 आन के युग में जो देश अधिक से अधिक मर्यादा में गानक शस्त्र अस्त्र  
 तैयार कर सके और शक्ति के बल से निबल देश को हदप कर सके  
 उसकी बहुत उन्नत और सम्य देश समझा जाता है। यह बात कदा  
 सत्य है यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। अस्तु अमण्य सत्यति

क महर्षिवा का इस प्रकार क भौतिक विज्ञान निरर्थक प्रतीत हुए । यह बात अत्यन्त है कि उनकी बुद्धि आधुनिक अ विज्ञानों तक पहुँच नहीं सकती थी । वास्तव में वे भौतिकवाद के दुष्परिणामों से भली भाँति परिचित थे इस कारण क उनकी आर ध्यान ही नहीं देते थे । इसी मता की पुष्टि भारत-व तथा अ व सृष्टितिया क समस्त भ. चरविन्द जी ने इस प्रकार की है\* —

‘आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुञ्जी है, अन तथा का भारता उसकी सद्व्यक्त भावना है । भारत १ आदिशाल में ही यह देव लिखा और अपने तक बुद्धि के युग में तथा अपने कर्तृ हुए अज्ञान के युग में भी उसने यह अ तट छि कभी नहीं खाई कि जीवन को केवल उनकी वास्तव परिस्थिति क प्रकाश में ही डीढ़-डीढ़ नहीं देखा जासकता और न यह केवल उ ही की शक्ति से पूरी तरह विनाया जासकता है । यह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियों की महत्ता क प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का सूक्ष्म ग्राह था, यह साधारण जीवन की कलाओं का सद्वृत्ति करना जानता था । परन्तु उता यह देता कि भौतिकता को अपनी पूरी सार्यवत्ता तक नहीं प्राप्त होती, जब तक यह अतिभौतिक से ठीक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर लेती, उसने देखा कि समार की जटिलता की स्यात्वा समुध्य की वतमान परिभ पाशों से नहीं की जासकती और न समुध्य की स्पूल दृष्टि से समझी जासकती है, और यह कि विश्व के मूल में कुछ अ व शक्तियों भी हैं तथा स्वयं समुध्य के भीतर भी कुछ अ व शक्तिया हैं जि ई यह साधारणतया नहीं जानता ।’

इस प्रकार सामुध्य के मन्दाव में भी प्राचीन आचार्य भौतिक

\* देवी क पाण्ड का हि० उ० अ० प० २०० ।

तबों की उपज्ञा करके आध्यात्मिक तत्त्वों की ओर एतन का हा मानव जाति को प्रेरणा करते थे। आत्मा की प्रकृतिका गन्तिम अक्षय मातृ था। तबारा में चित् और अचित् या दूसरे शब्दों में चेतन और अचेत दा तत्त्व हैं। दोनों का उचित विचार हा विरक्त ह। चेतन का स्वभाव है कि वह अक्षय पदार्थों का अग्रा काम म जाता ह। तबों का हा कोटियां हैं—मुक्त और संशारी। संशारी तबों में भी कुछ मन बाले, और कुछ मन रहित जन और ग्यावर) हैं। मुक्ति का मयन सम तत्त्व है और मुक्ति में प्रतिग्रह डालने का तत्त्व अभय है। जीव, अजीव, आश्रय, उच सवर, निचरा और मोक्ष य मात तत्त्व हैं। पुण्य और पाप का मित्रा का नो भा मान खाते हैं। वा वच का हनु है यह आशय ह। यावा, याथा आर मन में आशय स्तुति हाता है। विष्णुदशन, अविगति, प्रमा आर कयाय के कारण जीव में आशय क हाथ उस का पुद्गल से योग हाता है, यह समझ ही बन्ध है। आशयपर तबारा प्रवाद को दफने बाना भवर ह। वही तवर मोक्ष का कारण है। सम्यक् दशन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारिय ये तीन मोक्ष क माय हैं। ज्ञान और दशन ता आत्मा के अनादि अनन्त निन्न गुण हैं। मातृ प्राप्ति के बाद भी ये आत्मा के साथ ही रहत हैं। दशन और ज्ञान दोनों का नित्य सम्बन्ध है। अरिज दोनों की पूणता की आर प्रवृत्ति कराता है। इन तीनों क प्रभाव से जब सब कर्मों का खय हा जाता है ता आत्मा मुक्त हा जाता है। तब आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है। भयण सत्कृति तदा से मानव को इस सच्चिदानन्द स्वरूप मोक्ष की ओर पाने की ही प्रेरणा करती आई है।

## पञ्च महाव्रत ।

अहिंसा, असत्य, अग्नेष, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह. ये

संस्कृति के पांच प्रधान महाव्रत हैं। इन का विधान सा येन तेन रूपेण भरत ऋषि प्राण सभी धर्माचार्यों ने किया है परन्तु भ्रमण धर्म इन के पालन पर विशेष ही जोर देता है। इन पांचों के पालन करने से ही मानव मानवता की ओर कदम बढ़ा सकता है। किसी भी चीज की मन, बदन और भाषा से हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा भ्रमण संस्कृति के प्राण है। इस का वित्तुत विवेचन 'अहिंसा परमा धर्म' के प्रकरण में कर दिया है।

## सत्य ।

सत्य नामक दूसरे महाव्रत का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य पर चलता हुआ मानव ही पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन कर सकता है। सत्य बोलने और सत्याचरण करने आदि से आत्मा का उत्थान होता है। सत्य से आत्मा को गल मिलता है और और असत्य से आत्मा पतन की ओर जाता है। सत्य बोलने वाला व्यक्ति सदा निश्चिन्त और निभम रहता है और इस के विपरीत असत्यभाषी सदा पाल सुनने के डर से शक्ति और समय रहता है। असत्य की सदा श्रान्त में द्वार होती है और सत्य की जीत होता है। 'सत्यमेव जयते ना वृतम्' इस महावाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिये। बिच समाज, धर्म या जाति के लाग सत्य की उपेक्षा करते हैं वह समाज, धर्म या जाति कभी भी विवेक और नैतिकता के ऊँचे स्तर तक नहीं पहुँच सकती। अतएव सामाजिक जीवन को ऊँचा बनाने के लिये सत्यवादिता परमावश्यक है।

## अस्तेय ।

अस्तेय अध्यात्मचारी न करना। वास्तु अपनी नहीं उस पर

अधिकार नहीं करना चाहिये । सामाजिक व्यवस्था का सुचारु रूप से चलाने के लिये इस तीसरे महाव्रत का पालन भी सुसंस्कृत सभ्यता के लिये परमावश्यक है । प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह दूसरे के अधिकारों का आदर करे और उनको अपने अधिकारों के समान समझे । बलपूर्वक दावा डालकर या छुप कर चोरी करके यदि कोई व्यक्ति दूसरे के मान को छीने तो इससे सामाजिक व्यवस्था भंग होती है और आत्मा का पतन होता है । आत्मजल भी जो सभ्य राष्ट्रों के नियमों पर आश्रय करके उनको उनकी ब्रह्मसिद्ध स्वतन्त्रता से सम्बोधित करते हैं वे भी दाकुआ की ही कोठि में आते हैं । सभ्यता के नियमों के अधिकारों को छाने यह अनधिकार घेरा है । अतः जीवन के आनन्द माग की ओर बढ़ने के लिये इसका त्याग ही कल्याणकारी है । अतएव सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये मूल शिक्षा है ।

## ब्रह्मचर्य ।

मनुष्य में अनेक प्रकार की वासनाओं और लालसाओं का होना स्वाभाविक है । विवेक द्वारा उन वासनाओं और लालसाओं पर नियन्त्रण रखना ही ब्रह्मचर्य है । वा व्यक्ति ऐसा नियन्त्रण नहीं रखता है यदि विषयों के गड्ढे में ऐसा गिरता है कि फिर उसका उत्थान होना बड़ा कठिन होता है । विषयों का रसास्वादन बाहर से मधुर है किन्तु परिणाम में दुःखस्त्र है । इनका अधिक से अधिक उपभोग करने पर भी सुखा शांत नहीं होती किन्तु उत्तराचर जाती है । आग में जिस प्रकार घृत डालने से वह अधिकाधिक प्रचण्ड ही होती है ठीक इसी प्रकार विषयों के उपभोग से उत्तराचर तुल्यता बढ़ती जाती है घटती नहीं । अतएव विवेकी मनुष्य विषयों के दुःखान्ध परिणाम को



सदा ध्यान में रहने हुए उनमें जैसी नई चीज़ें उनका स्वागत करना ही भेद सम्भव है। बुद्धि का जब सूखा हुआ का टुकड़ा मिल जाता है वह उसको बढ़ चाव से खूब चलाता है और उस टुकड़े का तीक्ष्ण भाग पर जुझने से उसमें अपना मुँह सही खूब निकलने लगता है। वह कुत्ता वह समझकर कि रत्न हुआ उस निकल रहा है उस आर प्रतिक्रियामाना हो जाता है। ठीक वही दूर शास्त्रकारों ने विषय लक्ष्य पक्षों की भी बताया है। विषयों के भोग से नाश तो उनका अपना ही होता है किन्तु वे समझते हैं कि रत्न विषयों से मिल रहा है। विषयों का ध्यान करने में जिस प्रकार मनुष्य उत्तराचर पतन का चार भद्रता है इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण गीता में लीचा है —

अथातो विषयान् सुम सगस्नपुपचायत ।

सगात्सजायते काम काम क्रोधोऽभिजायत ॥

क्रोधाद्भ्रमति समोह समोहात्स्मृतिवध्रम ।

स्मृतिभ्र शाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

( गीता २ । ६२-६६ )

अथात्—विषयों का निरंतर ध्यान करने से मनुष्य का उनमें लगाव हो जाता है। लगाव अथात् सग से काम की उत्पत्ति होता है। काम से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से भ्रम होता है, भ्रम से स्मृति बिगड़ता है, स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सबनाश हो जाता है।

गीता में इन दो श्लोक रत्नों में मनोविज्ञान का कितना सुन्दर और साष्टुण्य चित्र मिला है इसकी प्रशंसा किए जाती है।

## अपरिग्रह ।

समस्त वस्तुओं का अपनी इच्छा में स्थापन करना, नृपणा से विरक्ति, और अनेक वस्तुओं का संप्रद का मोह त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है । मुख्य चिन्ता ही अधिक वस्तुओं का परिग्रह करना जाता है, उतना ही उतना उनके प्रति मोह कम जाता है और उतना ही मोह त्याग मग्न अशान्ति और दुःख गता है । अतएव चिन्ता ही कम परिग्रह हो उतना ही मनुष्य निमित्त, सुख और प्रसन्न रहता है । सात्विक और सादा जीवन ही मुख्यकारी होता है । यदि समस्त ने अपरिग्रह वस्तु वस्तु को समझा होता तो आज का पृथिवियों और साम्प्रदायिक में बहुत कम रहा है और भयानक संघर्ष ही रहा है वह कभी न जाता । अमल सत्कृति के अपरिग्रह आज का अनुमान यदि समस्त लभ्य मा । जीवन स्वतन्त्र करने और अपने भावों के शोषण से पूर्ण इच्छा न करने का वह स्वाभाविक या कि वह पूर्ण केवल अल्प साधन मनुष्य के पास न रहकर जन साधारण तक फैली होती । ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक और अद्वैत का न हो न होता । अपरिग्रह वस्तु वस्तु न समझने के कारण ही आज मानव दानव बन रहा है । सार साधारी का साधारण है । परिग्रह के उगमक लोभी और सातवीं लोभार्थ कारण आज विश्व में अमल परिवार जनक भयानक कहाँ व भारत में भी रहा है । आधा वस्तु जीवन के साधन भी दिन प्रतिदिन दुर्लभ हो रहा है और अनेक भार हो बनता आ रहा है । किसी के पास इनका है कि वह पानों में लगाता है और अधिक लोगों के पास इनका भी नहीं है कि वह सामा यही है जीवन निर्वाह भा कर रहे । मनुष्य और मानव में इस प्रकार का स्थान विषम अन्त ही बल और दुःख का कारण है

यदि सम्पन्न राष्ट्र और लोग पश्चिम के माह का स्वागत तो समार की सब सामाजिक अविलताएँ दूर हाजाएँ और कठिन समस्याएँ सुलभ जाएँ । यही कारण है कि भ्रमण सस्कृति के महर्षि अनादि काल से विश्व का अपरिमहम्भ महाजन का पालन करने का स देश देने आए हैं ।

## तप की प्रधानता ।

उपपुंक्त पांच महाव्रत ही नैतिक आचरण के आधार हैं । इनकी कायरूप में परिणत करने के लिये तपश्चर्या की आवश्यकता है । तप ही मानव को धर्म की ओर प्रवृत्त कराता है । तप दो प्रकार का मना है — (१) बाह्य और (२) आन्तरिक । ज्ञान में (१) अनशन, (२) अमोन्त्रिका, (३) निष्ठाचर्या (४) रत्नपरित्याग, (५) काय व्रतेश और (६) व्रतानता सम्मिलित हैं । आन्तरिक तप में (१) प्रायश्चित्त (२) विनय, (३) वैराग्य (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) जुगल । तपश्चर्या से आत्मशुद्धि होती है और अतःकरण के व्रतेश की निवृत्ति होती है । इसके लिये सहनशीलता की निता त आवश्यकता है । भगवान् महाश्वर स्वामी न तपश्चर्या के समय अनेक प्रकार के कायकलशों का अविवर्धित भाव से सहन किया । वन में अनाथ देशों में विदार कर रहने ता अमानि मनुष्यों ने उन पर दुर्लक्ष किया किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करते हुए वे अपने ध्यान में अदल रहें ।

भ्रमण सस्कृति में आत्मशुद्धि को जीवन का लक्ष्य माना है और इसी कारण से तपश्चर्या की प्रधानता है । जैन धर्म ग्रन्थ ऐसे अनेक उदाहरणों से भरे पड़ हैं जिनसे पता चलता है कि साधारण

गणियों की ताबात ही करा बड़े-बड़े चमकती रात्रा भी आत्मशुद्धि के निवे जोर तपस्या करत थे। महाकवि भीषीरन दीवी मिलते हैं\* -

“मुनिवर के आगे विनय से तिर मुका कर चमकती अतिसेन ने सङ्गे में कहा कि मैं आपके आश्रम में ही जाने वाला था। पर मेरे पुत्रों के कारण आप वहीं आ गए। अब मनुष्य दुर्गति में गिने लगता है तब सेना आदि वैभव और बाघन कोई भी आश्रय नहीं दे सकते। यह जानकर मेरा जो चारता है कि मैं आपकी ही सेवा में रहूँ। इस वरदापक, इसलिये प्रसन्न होकर आप मुझे अपनी दीक्षा दात्रिये। क्योंकि आपका चौड़ी नीला कृपा शुभ करके अशुभ का मिटा देती है। सुन्नो का अनुग्रह क्या नहीं कर सकता। इस प्रकार रात्रा न बर अपने हृदय की बात कहदी तब समय रात्रा के तारु की पराधा कराने के इरादे से मुनिबा ने उ हैं उनका इच्छा स करने वाले बचन करना शुरू किया। रात्रा, बटिन शरीर बाल मुक्त सरीने सातु अन त्रिष दुष्कर तार की आप नहीं सद करने उमका दुष्कर सरीन कुकुम लेप से लातित मुकुमार लोग बेश कर सकते हैं। इन दवातु, धम की ही बन समझने वाले और अपने वैभव को आश्रम में लगाने वाले हो। तुम्हारा चरित्र ऐसा नहीं है कि निन्दन लोग उसकी निन्दा करें। तुम गरुड हो, सब भी तुम्हारा आश्रम आश्रम के ही समान है। इस लिये रात्रा, आप दवातु, उ दुष्कर, उ दुष्कर बने रहकर युग भर इस पृथ्वी का शासन करा। इन इन दुष्कर को गाली और ठपारा। दीनों को उबारने से दुष्कर नही है। मुनि व इस प्रकार कहने पर हृदय-वन्धन रात्रा ने दात्र क मार्ग में हृद होकर तिर इस प्रकार अपने गुरुक हृदय आश्रम

किया—इ दश, मैं परम पूजनाय को याप है उनकी इन आज्ञा व नियम में फिर जो कुछ कहना चाहता हूँ, उनका कारण ब्रह्म-मरण व दुःखों का उद्धार है। इन चीजों को इष्टानिष्ट व त्रिषोम सदाग स यनि दुष्ट पादाय न हेता ता त्रिषोमचन्द्र द्वारा धारण किये इस मत्प आर महापञ्चि महात्मना को कौन प्रदण्य करता ? यदि गृहस्थ रहने पर भी विविध दुःख देने वाला ब्रह्म-मरण का चक्र मिट जाता है ता फिर आप जैसे विषयी महापुरुषों का तब में परिभ्रम करना क्या हो उदरा । जिन-दीक्षा में जिनका मन लगा हुआ है उन उदार चरित्र राजा के ये बचन सुनकर सुनकर को यह निश्चय होगया कि इन्होंने साव विचार कर यही दृढ निश्चय कर लिया है । तब उद्धाने राजा की माधना का स्वीकार किया । परिवार व बचन से मुक्त राजा ने मुनि की अनुमति पाकर करने पुन को वह निष्कण्टक राज्य दे दिया ।

उनके बाद उद्धान परिग्रह छोड़ कर स्वयं का अलङ्कार रूप तब प्रदण्य कर लिया । बार तब करते हुए मयगूँव राजा पुरवादेर पयङ्गामन स रियत रहकर हस्त की रातें बिताने लगे । धैर्य-वध्वधारी राजा वहाँ वाले और टलड़ी हवा के योग का सहने थे । भयानक छेकड़ा डल्कावाता से दुस्मह और धार धन-घटाशा से आचकार कैला देन वाली बयाबहुत की रानों म चमताशाली थे पड़ो की बड़ में बैठे हुए मूँसलाधान पानी सहते थे । वे गर्मियों में सूय के सामने लड़े रहते थे । तथा हुई सूई के समान शरीर में जुमने वाली सूय की किरणों के लगने पर भी वे ध्यान से नहीं दिगे । कर्षेयकाम जितना ही कठिन क्यों न हो उसे करने के लिये सज्जन लाग रहते हैं ।”

## सामाजिक जीवन ।

वैदिक धर्म के सामाजिक जीवन में चार आश्रमों का विधान है । जैन — ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थ प्रभयाश्चत्वार ऋष्याश्रमाः ॥ मनु० ६।८७

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, तथा संन्यासी ये चारों आश्रम अलग २ होने पर भी गृहस्थाश्रम में ही सम्मिलित होते हैं ।

ठीक इसी प्रकार का मतत्व जैन धर्मग्रन्थों में भी मिलता है । जैन —

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।

इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तर शुद्धान् ॥

श्वेताश्रम-आदि पुराण ।

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम उत्तरात्तर शुद्धि के लिये हैं ।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म में आश्रम व्यवस्था पर जोर दिया है और दायरूप में उसका पालन भी बिना गया है इस प्रकार जैन धर्म में नहीं । जैनगमों में चार तीर्थों के आचार विचार पर ही जोर दिया है । जैन सत्सृष्टि के आगम तथा अन्य धर्म ग्रन्थ तीर्थ विषयक कमकाण्ड से ही भरे हुए हैं । भगण सत्सृष्टि में कठिन तपस्या करने के लिये धनुर्पाश्रम तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं किन्तु जीव का संस्कार यदि उत्सृष्ट है तो किसी अवस्था में भी वह तपश्चर्या का अधिकारी है । मेरे विचार से जैन पुराणों में जो आश्रम व्यवस्था का विधान है यह बहुत पीछे का है और यह जैन सत्सृष्टि की अपनी चीज नहीं किन्तु का ही जैन सत्सृष्टि पर प्रभाव है ।

## गृहस्थ धर्म ।

धर्मणधर्म निवृत्ति और तपप्रधान धर्म है इस कारण यह न समझना चाहिये कि इसमें गृहस्थभाग की उपस्था की गई है और उसका इसमें आदर नहीं है । वैदिक संस्कृति के समान धर्मण संस्कृति में भी गृहस्थाश्रम का धर्म की आचार शिक्षा माना है । गृहस्थ क बिना धर्म की प्रवृत्ति और प्रगति नहीं हो सकती । केवल मित्रात्त विधान मात्र से आत्मशुद्धि प्रधान तप की लिया नहीं जा सकती और नहीं केवल आगम ज्ञान के घोष से आचार विचार का पालन ही हो सकता है निम्न सत्र प्रकार की धार्मिक विद्याओं के लिये वाच्य साधनों की आवश्यकता रहती है जिनका गृहस्थ पूरा करता है । यही कारण है कि पत्र तत्र जैन धर्मग्रन्थों में 'गृहस्था धर्म हेतव' और 'भाषका मूलकारणम्' जैसे वाक्य मिलते हैं । इसी सत्र की पुष्टि वैदिक महर्षि भी करते हैं —

सर्वधामपि चैतेषा वेदस्मृति विधानतः ।

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठं स ग्रीनेतान् विभर्ति हि ॥

मनु० ६/८८

अर्थात्-समस्त आश्रमों में वेद और स्मृति की बताई हुई विधि के अनुसार चलने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है । क्योंकि गृहस्थ ही इन तीनों आश्रमों की रक्षा करता है ।

जैन धर्मग्रन्थों में गृहस्थ के लिये दो तरह के धर्मों का विधान मिलता है । वे हैं लौकिक और पारलौकिक । जैसे —

ह्ये हि धर्मा गृहस्थाना लौकिक पारलौकिक ।

लोकाभयो भवेदाद्य पर स्यादात्ममाश्रय ॥

सर्वं यत् हि ज्ञानानां प्रमाणं लौकिके निधिः ।

यत्र सम्यक्त्वं हानिन यत्र न सत् रूपलम् ॥

( पञ्चलिनक )

अर्थात्—गृहस्थों के लिये लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के धर्मों का विधान है । लौकिक धर्म लोकाभित अर्थात्-लौकिकजनों का देशकालानुसारिणी प्रवृत्ति व अधीन और पारलौकिक आगमाभित अथवा आत्मप्रणीत शास्त्रोंके अधीन चलनाया है ।\* सांसारिक व्यवहारके लिये आगम का आश्रय लेना भी बहुत आवश्यक नहीं समझा गया और साथ २ व. भी प्रतिपादन किया है कि जैनियों के निवेद के सम्पूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण हैं बिनासे उनकी धार्मिक भ्रष्टा में बाद बाधा न पड़ती है और न ब्रतों में है कोई दूषण लगता है ।

इस प्रकार अमण-संस्कृति में गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत ऊँचा और आदरणीय है ।

## विवाह ।

विवाह करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है । आदिपुरुष में भगवद्भिन सैनाचार्य ने लिखा है कि जब पुत्र के प्राप्ति में भगवान् ऋषभदेव ने विवाह के लिये कुछ अनिष्टा प्रदर्शित तो उनके पिता नाभि राजा ने उनको समझाते हुए ये वचन कहे —

तन्मादिपूरुषं दृष्ट्वा लोकोज्येयं प्रवर्तनम् ।

मदता मार्गेवर्ती च प्रजा सुप्रज्जनो ह्यम् ॥ ५१ ॥

ततः कलत्रमप्रेष्टं परिणेतुं मनः कुद ।

प्रजासततिरेव हि नोच्छेत्सति विवाहः ॥ ५२ ॥

पजासतत्यविच्छेदे तुल्यं धर्मसतति ॥

\* विवाह समुददेश्य पृष्ठ २० ।

• — विवाह समुददेश्य पृष्ठ २० ।



अथात्—आदि पुरुष आपको देखकर लाग भी आपका ही अनुकरण करेंगे। प्रजाजन बड़ा रे दिवाए माग पर डी चला करते हैं। अतएव आप पत्नी के परिखयन की प्रायना को स्वीकार कर। ऐसा करने से सन्तानोत्पत्ति की गृह्णला निरन्तर चलती रहगा और उससे चलने से धम-सतति का वृद्धि होगा।

वण व्यवस्था के प्रकरण में यह बताया व चुका है कि मूलात् भ्रमण सृष्टि में वण व्यवस्था कम से ही रही है किन्तु वैदिक सृष्टि के साथ निरन्तर चिरकालीन सम्पर्क से यह उसने प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। नवे दिया उदाहरण इस सत्य की पुष्टि करता है। वैदिक सृष्टि के अनुसार —

शूद्रैष भार्या शूद्रस्य सा च ररा च रिश स्मृते ।

ते च रमा चैव राजश्च वारश्च ररा चाप्रज मन ॥

मनुस्मृति १।१३

अथात्—शूद्रा ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं। वैश्य को वैश्य वण भार्या और और शूद्रा क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्वा तथा शू। ब्राह्मणों को चारा वणों की क शास्त्रों से विवाह करने क अधिकार है।

ठीक ऐसा ही म तथा जैन पुराणों में भी मिलता है। जैसे —

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या ररा ता च नैगमाः ।

यहेत्स्या ते च राजन्य स्या द्विजम्मा कचिच्यता ॥†

ठीक ऊपर जैसा ही अर्थ इसका भी है। कमभूलक भ्रमण सृष्टि पर यह सम्मूलक सृष्टि का ही अन्तर है और यह अन्तर बहुत

† आदि पुराण ।

प्राचीन नगरे किन्तु घटून गीछ का है। अमरुत लक्ष्मि कातव में कम घुनक जाने क कारण विवाह क लिये लातिगति का कोई प्रमिष प उरमित नगी कती। विवाह में लातिगमन की प्रथा घटून पाछ की है। शास्त्रों में अमरुत विवाहों के आक उदाहरण मिलते हैं। बड़े पद प्रतिष्ठित मन्त्रपुरा भीलो और भोजपुरी आदि तक की कथाओं में निम्नोक्त विवाह कर लेन प। एक ही गात्र और एक ही परिवार में भी विवाह हो सकता था। भीममित्राय क चनर मनुदेव भी न अपने भनाप्राद भाई उपसेन की लक्ष्मी देवकी से विवाह कर लिया था।\* मामा और घुनी की लक्ष्मी से विवाह का आम प्रचलित था। दक्षिणात्य प्रांतों में का इस प्रकार के विवाह आज भी प्रचलित हैं। परन्तु इस प्रकार के विवाह इन समय भी गार्हस्थिक नहीं थे। इसी कारण गार्हस्थिक गुरि ने लिखा है — दशकुलापेक्षो मातुलमन्त्र प।

विवाहों में सबसे पुण्यमय विवाह का माना जाता था। आदि गुणों में विवाह विधान के प्रकरण में लयकर विवाह को ही सर्वोत्तम बताया है।

वेद — मनातनोऽस्ति मातोऽय मृतिमृतिषु भावित ।

विवाहविधिभेदेषु परिच्छेदि रथं ॥

अनात्—विवाह के अतिसे भेद हैं उनमें स्वयंवर ही सर्वोत्तम है और मृति-मृतिषु में इनकी प्रथिमा है। अनादिकाल से विवाह का यही उत्तम मान चला आता है।

स्वयंवर में गुरु दूर क था अपनी रुचि क अनुसार घर का चुनती है — कथा वृत्तिने कंचित् प्रयत्नगता यम् ।

कुचीनमकुचीन वा क्रमोत्तमिन स्वयम्भरे ॥\*

अर्थात्—स्वयम्भरे में गई हुई कया कुचीन और अकुचीन का विचार न करके अपनी इच्छा के अनुसार वर को चुनता है ।

वैनहल में उहु विषाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किंतु परस्त्री की ओर दृष्टि डालना बहुत बुरा समझा जाता था । लोग अपनी २ प्रियतमाओं से ही सन्तुष्ट रहते थे ।

## भ्रमण सस्कृति के प्रवर्तक ।

भ्रमण सस्कृति ने आदि प्रवर्तक कौन थे, वे कब हुए और किन किन परिस्थितियों में उद्भूत हुए इसकी नींव रखी इसका इतिहास से कुछ पता नहीं चलता । हा उपलब्ध 'ग्राममन्त्रियों' तथा अन्य साहित्य से यह स्पष्ट है कि नाभिपुत्र आदितीयेन्द्र भगवान् ऋषभदेव स्वामी भ्रमण सस्कृति ने महान् समर्थक थे । उद्भूत हुए इसका संप्रसारण किया । उद्भूत ही लोगों के लिये रहन-सहन के नियम बनाया और उन्हें पालन करने का दण्ड सिखाया । जङ्गली जानवरों से आत्म-रक्षण करने के लिये उद्भूत लोगों का शस्त्र बनाना सिखाया और स्वयं तलवार हाथ में लेकर उद्भूत लोगों को उनका प्रयोग करना सिखाया । ब्रह्मर्षि कण्व यवस्था भी उद्भूत ही नाभि । आदिरात्र ऋषभदेव ने ही ब्रह्म को छ भागों में बाँटा—(१) पुत्र, (२) कृषि, (३) नाहित्य, (४) शिल्प, (५) वाण्य और (६) व्यवसाय । न्यायपूर्वक प्रजापालन ने ब्रह्म को भी उद्भूत ही तत्कालीन राजाओं ने सम्भाला । उद्भूत तत्कालीन लोगों को लिखना पढ़ना सिखाया और कृषि के योग्य लोगों को कृषि करने का दण्ड बताया ।

अनेक प्रकार की शिञ्जकनाओं का आविष्कार भी उ हो । किया । सामाजिक मुख्यवस्था के लिये उन्होंने अनेक नियम बनाये और अनुशासन तथा मर्यादा में रहकर उनका पालन करना लोगों को सिखाया । वह उन्होंने अनुभव किया कि उनका बड़ा पुत्र राज्यभार समालने में और प्रजाराजने में पूरुषस्य से ममय होगया है ता वे राज्य भार उस को सौंप कर और स्वयं सब कुछ त्याग करके चले गये और तत्पर्याय करने लगे । इस प्रकार अनादि परंपरा से चली आई अमण सस्कृति के निर्माण में आदितोष्यकर भी अत्यंत देव स्वामी का कितना हाथ है यह पठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं ।

## अमण सस्कृति की महानता ।

इस प्रकार अमण सस्कृति का बाह्य रूप लोगों का मन है आकण्ण करने वाला नु जग किन्तु उन का आंतरिक स्वरूप अमण सस्कृति का है । आंतरिक स्वरूप के महत्व का कारण यही है कि अमण आचारशिष्टता आध्यात्मिकता है । मरार की अथ ममकदित्त वाद-हम्बर, और टाप भीतिवाद राबनेतिक चातुर्य आर कृष्ण-संकेत विश्वास करती है किन्तु अमण सस्कृति वास्तव में ममकदित्त आर अहिंसा में विश्वास करती है । अमण सस्कृति ईश्वर-पूजा, तपस्या, त्याग, मम्य और निज प्रेम का ममकदित्त है । १२० भी राष्ट्रीयनोचन बी अमिनेनी ने जो भावद्वय ममकदित्त ममि-लिलित पत्तिया निधी हैं वे अमण सस्कृति का ममकदित्त है । १२० होता है - \*

“ मरार के सभी प्राणियों का ममकदित्त का ममकदित्त है प्रेम कदणा, उपकार, चामा, अहिंसा, ममकदित्त का ममकदित्त

रखना, उन के लिये अपने व्यक्तिगत जीवन के स्वायत्त, सुयोपभोग की लालसा यश और प्रतिष्ठा की चाह का परित्याग करना, दूसरे के विनाश में अपना निमाण देवों की लिप्ता समाप्त करना, धृष्टा, विद्वेष, अनिष्टपुता और मताभ्रता को अपने जीवन में न आने देना तथा सामाजिक जीवन में भी उसे न फैलने देना इन्द्रियों को समय में कसकर अतः करण की पवित्रता की और करना मत्त्वशुद्धि के लिये ही उपयुक्त जीवन पद्यालीका निमाण करना और इन्हीं से ऊपर उठते रूप भिन्नाप भाव से कम करने की क्षमता प्राप्त करना यही भारतीय सभ्यता है। मनुष्य की पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्व की ओर उसे पुरस्कार करना भारतीय सभ्यता का कार्य है।”

इस प्रकार आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि सभी जीवन के क्षेत्रों में अनन्यसंस्कृति विरुद्ध अथवा संस्कृतियों में बहुतायत का स्थान मिलती है। पात्र महात्रतो के सच्चित्त विषय से ही पाठक अपनी भौतिक समझ गए होंगे कि भगवत् संस्कृति में मानव जीवन का अर्थात् गतिशील और लेवाने वाले हिता, अहित, अनधिकार चेष्टा अथवा और अर्थ का कितना विवेक किया गया है। संसार में पापक रूप से फैली हुई विषमता, रक्षा, कलह और अशांति का मिटाने के लिये भगवत् संस्कृति ने विश्व के सामने अहिंसा सत्य समानता, समय और त्याग के आदर्शों को रखा है। इन आदर्शों पर चलने से ही विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है और मानव आति आत्म कल्याण की ओर बढ़ सकता है।





रखना, उन के लिये अपनी व्यक्तिगत जीवन के स्वाध, सुखोपभोग की लालसा, यश और प्रतिष्ठा की चाह का परित्याग करना, दूसरे के विनाश में अपना निमाण देवों की लिप्ता समाप्त करना, घृणा, विद्वेष, अनिष्टपुता और मताघता को अपने जीवन में न आने देना तथा सामाजिक जीवन में भी उसे न देने देना इन्द्रियों को समय म कसकर अंत करण की पवित्रता की ओर उठना सत्त्वशुद्धि के लिये ही उपयुक्त जीवन प्रणाली का निर्माण करना और हृदों से ऊपर उठते हुए निष्काम भाव से कम करने की दमता प्राप्त करना यही भारतीय सस्कृति है। मनुष्य की पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वररूप का और उसे पुरुषरूप का भारत में सस्कृतिका काय है।”

इस प्रकार आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि सभी जीवनक क्षेत्रों से अनन्यप्रसूति विधियों और सस्कृतियों में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। पाँच मंडावतों के सञ्चित विधियों से ही पाठक भली भाँति समझ गए होंगे कि भ्रमण सस्कृति में मानव जीवन का अघो गति की आर लेजाने वाले दिमा, असत्य, अनधिकार, चोरा, असवम और ृष्णा का कितना विनाश किया गया है। सुतार में ध्यापक रूप से गैली हुई त्रिपमता, राधा, कलह और अशांति को मिटाने के लिये भ्रमण सस्कृति ने विश्व के सामने अदिखा, सत्य, समानता, समय और त्याग व आशों को रखला है। इन आदर्शों पर चलने से ही विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है और मानव जाति आत्म कल्याण की ओर बढ़ सकती है।



